ओ३म्

शाश्वत सत्य

द्धान्त दर्पण

संकलनकर्ता

पं. मुन्नालाल मिश्र

वैदिक आदर्श प्रकाशन

नारायणगुडा, हैदराबाद—५०००२९



ओ३म्

शाश्वत सत्य

भा॰ पु॰

सिद्धान्त दर्पण

*



संकलनकर्ता

पं. मुन्नालाल मिश्र

सृष्टि संवत् १९७२९४९०७८, विक्रमी संवत् २०३५, दयानन्दाब्द १५४

वैदिक आदर्श प्रकाशन

नारायणगुडा, हैदराबाद—५०००२९

सम्पादक :
डॉ० विजयवीर विद्यालंकार

प्रकाशक :
वैदिक आदर्श प्रकाशन
नारायणगुडा, हैदराबाद—५०००२९

प्रथम संस्करण : एप्रिल १९७८

मूल्य : ४-००

मुद्रक :
रोज प्रिंटिंग वर्क्स,
नाम्पल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद—५००००१



निवेदन

" रामचरित दर्पण " वाल्मीकि रामायण का संक्षिप्त पद्यानुवाद २० वर्ष पूर्व प्रकाशित किया और वैदिक दर्पण १९७३ में छपवाया। पुनः इच्छा हुई कि जो कुछ जीवन में संग्रह किया है उसे गद्य में छपवाकर जनता की सेवामें प्रस्तुत किया जाए। मित्रों के सहयोग से " शाश्वत सत्य सिद्धान्त दर्पण " छप कर आपके हाथ में है। साथ ही यह इच्छा हुई कि जो भजन समय समय पर बनाए गए हैं, वे भी छपवाए जाएँ और जनता तक पहुँचाए जाएँ। यह कार्य भी ईश्वर की कृपा से आरम्भ कर दिया है।

पाठकों से निवेदन है कि किसी प्रकार की छोटी-बडी भूल दृष्टि में आ जाए तो निसंकोच दर्शा की कृपा करें जिससे उस भूल की पुनरावृत्ति न हो। असत्य का त्याग और सत्य का ग्रहण करना मैंने अपना उद्देश्य बना रखा है। ईश्वर को भी मैं इसलिए मानता हूँ कि वह सत्य की कसोटि पर खरा उतरता है। मैं पुस्तक के प्रमाण को महत्व नहीं देता। मैं तो महत्व देता हूँ इस धरती को अर्थात् व्यवहार-दर्शन को। इस धरती के द्वारा आत्मा, परमात्मा आदि सभी की सिद्धि होती है। परमात्मा सर्वाधार है पर परमात्मा का आधार एक प्रकार से यह धरती ही है। प्रत्येक वस्तु अपना विशेष महत्व रखती है।

धरती को प्रमाणित करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती। आत्मा-परमात्मा की सिद्धि भी शरीर और धरती की कृतियों द्वारा ही करनी पड़ती है।

पुस्तकों में लिखी बातें समझ में न आने पर मत मानिए। पर समझ में आजाने पर पूर्व गृहीत असत्य बातों के प्रति आग्रह मत कीजिए।

श्री पं. मदनमोहन विद्यासागर जी का मैं आभारी हूँ जिन्होंने मेरे संग्रह किये हुए विचारों को सैद्धान्तिक एवं प्रवाहात्मकता की दृष्टि से सौन्दर्य प्रदान किया। श्री पं. विजयवीर विद्यालंकार जी ने पुस्तक के सम्पादन का भार ग्रहण कर सम्यक् मुद्रण का प्रयास किया।

मैं इन दोनों महानुभावों को हृदय पूर्वक धन्यवाद देता हूँ।

रामनवमी :
वि. सं. २०३५
प्राचीन मल्लेपल्ली
हैदराबाद (आं. प्र.)

आप सबका
मुन्नालाल मिश्र





ओ ३ म्

शाश्वत् सत्य

सिद्धान्त दर्पण

इसमें सबसे पूर्व परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना-उपासना से मंगलाचरण करके, ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हैं।

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं
वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु
वक्तारम्। ओ ३ म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥

तै. आ. प्रपा. ७ अनु. १॥

ओम् निज नाम वाला परमेश्वर जो सब जगत् का मित्र है, सब से श्रेष्ठ है, न्यायकारी, दयालु है, परमैश्वर्यवान है, वेदज्ञान और लोक-लोकान्तरों का स्वामी है, सब जगत् में व्यापक है और अनन्त पराक्रमी है, वह परमेश्वर हम सब के लिए शान्ति और सुख-कल्याण करने वाला हो।

हम परब्रह्म को नमस्कार करते हैं। हे चराचर जगत् के संचालक वायु रूप परमेश्वर! हम तुझे नमस्कार करते हैं। हे ईश्वर! आप ही अन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आप ही को मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा। हे प्रभो! वेदस्थ **शाश्वत सत्य का** ही मैं उपदेश और आचरण करूंगा। सर्वदा सत्य बोलूंगा, सत्य मानूंगा और सत्य ही

करूँगा। मुझ सत्यवक्ता की रक्षा कीजिए जिससे आप की आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर कभी विरुद्ध न हो। हे शान्तिप्रदायक परमात्मन्! हमारे

१. **आध्यात्मिक** अर्थात् जो आत्मा और शरीर में अविद्या, राग-द्वेष, मूर्खता और ज्वर, पीडादि होते हैं,

२. **आधिभौतिक**—जो शत्रु, व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होते हैं, और

३. **आधिदैविक** अर्थात् जो अतिवृष्टि, अतिशीत, अति उष्णता तथा मन और इन्द्रियों की अशान्ति से प्राप्त होते हैं; इन तीन प्रकार के क्लेशों से हमें दूर कर कल्याणकारक कर्मों में सदा प्रवृत्त कीजिए।

जिज्ञासु — **मैं आपसे वाद-विवाद करना चाहता हूँ।**

सिद्धान्ती — क्या शास्त्रार्थ के रूप में?

आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक सर्वमान्य सत्य को जानने के निमित्त।

तब तो आपको निम्न संकल्प करने होंगे :—

१. मैंने जो माना है, वही सत्य है, ऐसा कभी निर्णय न करें।
२. सच्ची बात बुद्धि में बैठ जाने पर उसे पूर्णतः स्वीकार कर लें।
३. अपने पक्ष की बात असत्य सिद्ध हो जाने पर उसे तुरत त्याग दें। विपक्ष की बात सत्य सिद्ध होने पर उसे ग्रहण करें।
४. विपक्षी की बात सत्य हो सकती है, ऐसा समझ कर ही विचार-विमर्श करें।
५. बात समझ में न आने तक न मानें।
६. अपने प्रभाव व प्रतिष्ठा का अनुचित प्रयोग कर के दूसरे पर दबाव न डालें।
७. जिस प्रकार से, जैसी बात स्वयं कहें, उसी प्रकार से वैसी ही बात विपक्षी के कहने पर स्वीकार कर लें।
८. विषय को तर्क, विज्ञान और सृष्टि-नियमानूकूल सृष्टि के उदाहरणों से सिद्ध करें।
९. सिद्धांत और वचनों में विरोध न आने पाए। हाँ, जो जैसा है उसको वैसा ही समझें, मानें और यथार्थ वर्णन करें।

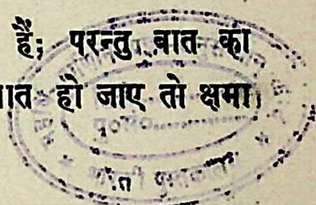
१०. मात्र अपने मतग्रन्थ या किसी विशष पुस्तक को और अपने विश्वास को ही महत्त्व न दें।

११. विषयान्तर न होवें और वाद के लिए वाद न करें।

१२. शंका छोटी सी करें, लंबा भाषण न देवें और व्यर्थ के वाक्-जाल की रचना न करें। न उलझें और न उलझाएँ।

१३ न स्त्रय रोष में आवें और न आवेश को आने दें। वाद दृढ़ता, सहृदयता और स्नेह के साथ करें।

मुझे ये सब बातें प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार हैं; परन्तु बात का निर्णय करने के लिए, यदि कोई अप्रिय बात हो जाए तो क्षमा करें।



अच्छा, अब आप यथाक्रम प्रश्न प्रस्तुत कीजिए। हम यथासम्भव शास्त्र और युक्ति से समाधान का प्रयत्न करेंगे। आप शान्तभाव से उन पर विचार करें।

ईश्वर के होने में क्या प्रमाण है ?

ईश्वर न होता तो आप उसके बारे में पूछ भी नहीं सकते। वस्तु के बिना नाम और नाम के बिना वस्तु नहीं होती।

राष्ट्रपति को लक्ष्य में रख कर ईश्वर की कल्पना की जा सकती है ?

कल्पना में भी सच्चाई है। जैसे जगत् में किसी राष्ट्र के लिए राष्ट्रपति का होना आवश्यक है वैसे ही समस्त ब्रह्माण्ड के नियम पूर्वक संचालन के लिए ईश्वर का होना आवश्यक है।

ईश्वर को अन्य प्रमाणों से भी सिद्ध कीजिए।

संसार में जो कार्य हो रहे हैं वे सब बुद्धि संगत हैं या नहीं ? भवनादि का निर्माण भी किसी कारीगर द्वारा ही हो सकता है।

अपने आप हो सकता है, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

जो गुण भूमि में हैं वही गुण भवन में हैं। परमाणुओं में वस्तु विशेष के बनने की योग्यता है, पर वे किसी चेतन सत्ता के द्वारा ही

उस रूप में बनाए जा सकते हैं। आप यह बात ध्यान में रखिए कि कार्य, कर्ता का; गुण, गुणी का और रचना, रचयिता का बोधक-प्रमाण है। जो कार्य मनुष्य के द्वारा सम्भव हैं, वे कार्य बिना मनुष्य के नहीं हो सकते हैं। उसी प्रकार जो कार्य मनुष्य के द्वारा रचे जाने सम्भव नहीं हैं; परन्तु उनकी रचना हो रही है। स्वयं वे बन नहीं रहे। इसलिए उनका बनाने वाला कोई जरूर है।
सृष्टि के लिए किसी चेतन सत्ता का होना आवश्यक है। जैसे शरीर का संचालन आत्मा करता है, वैसे ही सृष्टि का संचालन परमात्मा करता है। साथ ही विचारणीय बात यह है कि क्या कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मानव आदि सब अपनी इच्छा से इस रूप में बने हैं। आप-हम जो भोजन करते हैं, उसके पश्चात् उदर में जो पाचन क्रिया होती है, वह क्या हमारी इच्छा से अपने आप होती है? माता के गर्भ में बालक का पालन-पोषण एवं वर्धन होता है और प्रत्येक इन्द्रिय वृद्धि को प्राप्त होता हुआ व्यवस्थानुसार नियम पूर्वक ढलता है। क्या यह बिना किसी चेतन सत्ता के सम्भव है? यदि चेतनकर्ता शरीर आदि का निमित्त नहीं है, तो एक लड़की जो गर्भाधान से पूर्व और गर्भाधान के पश्चात् भी भोजन करती थी, उसी भोजन को अन्य परिवार के सदस्य भी करते थे जिसके परिणाम में सभी व्यक्तियों के शरीरों में रक्तादि की तथा शरीर की वृद्धि होती थी। परन्तु लड़कियों के गर्भाधान के पश्चात् और प्रसव से पूर्व ही उसी भोजन से उस लड़की के स्तनों में दुग्ध रूप में एक नया तत्व कैसे बन गया? वृक्ष, फल और अन्नादि जीवों की उत्पत्ति से पूर्व ही धरती पर उत्पन्न होते हैं। इससे खाने वाले की और बनाने वाले की सत्ता का प्रत्यक्ष संकेत मिलता है या नहीं?

आपकी बात तो समझ में आ गयी है; फिर भी पूछता हूँ कि पांचों तत्वों के अपने आप मेल से सृष्टि बन गई, ऐसा क्यों न माने?

पांचों तत्व जड़ हैं, चेतना हीन हैं। उत्पन्न होना, बढ़ना, फैलना रुक जाना, सूखना, झड़ना, विनाश हो जाना, ये विरोधी गुण हैं। बिना चेतन सत्ता के व्यवस्थानुसार ऐसा नहीं हो सकता। अनन्त

काल से अनन्त मानवों की रचना होती आ रही है और एक-दूसरे की मुखाकृति एक-दूसरे से भिन्न है। इस साधारण चमत्कार को देख कर भी क्या उस कलाकार को नहीं माना जा सकता ? बड़े-बड़े सम्राट्, बलशाली शासक अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाते। कौनसी वह सत्ता है, जो बीच में रुकावट डालती है ? भवन बनाने के लिए प्रत्येक आवश्यक सामग्री संग्रह किये बिना और भवन बनाने का नक्शा मस्तिष्क में लाये बिना भवन का बनाना असम्भव है।

आपकी बातें सभी बुद्धि संगत हैं। इन पर आज के वैज्ञानिक आपकी भांति विचार क्यों नहीं करते ?

कुछ तो ईश्वर को मानते ही नहीं और कुछ मानना नहीं चाहते और कुछ बिना खोज किये मनमाने ढग से मानते हैं। ईश्वर को मानने के लिए सबसे पहले तो प्रबल जिज्ञासा होनी चाहिए। उसके पश्चात् उसको समझने की योग्यता होनी चाहिए और साथ ही श्रद्धा व दृढ़ आस्था होनी चाहिए। इस में पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए।

अच्छा यह बताइए कि डारविन ने जो कहा है कि अमीबा से एक कोष्ठक प्राणी व मत्स्य, पशु, पक्षी क्रमशः विकास करते हुए बानर के रूप में बने और अन्त में मनुष्य की आकृति का प्राणी बना, यह कहां तक ठीक है ?

इस विकासवाद के सिद्धांत को पश्चिम के अधिकांश दार्शनिक-वैज्ञानिकों ने ही असत्य सिद्ध कर दिया है। फिर भी हम आपको इसकी वास्तविकता समझाते हैं।

विभिन्न प्रकार की योनियां हैं। एक जाति का पशु दूसरी जाति में प्रजोत्पत्ति नहीं करता। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वजाति-जनन नैसर्गिक है। दूसरा, विकास की क्रम पूर्वक शृखला मत्स्य-कीट-पशु और मनुष्यों में कहीं दीख नहीं रही है।

मानव ने गधे और घोड़े के संपर्क से खच्चर उत्पन्न करवाया, पर निसर्ग को यह स्वीकार नहीं था। इसीलिए वहां वंश वृद्धि नहीं हो सकी अर्थात् खच्चर द्वारा प्रजनन नहीं हो सका।

जीवों में आकृति भेद क्रिया भेद, और स्वभाव भेद यह सिद्ध कर रहा है कि आरम्भ से अन्त तक यह भेद चलता रहेगा।

वंदरों और मनुष्यों में कई बातों की समानता होते हुए भी योनि-भेद होने के कारण आपस में प्रजोत्पत्ति नहीं हो सकती। ऐसे ही शेर, बबर, चीता आदि अनेक योनियों में अधिकांशतः समानता होते हुए भी प्रजोत्पत्ति नहीं होती।

विकासवाद मानव के मस्तिष्क की उपज है। पशुओं का पानी में तैरना स्वाभाविक गुण है। मनुष्य को तैरना सीखना पड़ता है। यह ह्रास हुआ या विकास। फिर आज विकास का क्रम रुका हुआ क्यों है ?

कई नास्तिक लोग कहते हैं कि यह सब बाइचांस हो जाता है।

जो कार्य व्यवस्था और नियमानुसार होता है, वह बाइचांस नहीं कहला सकता। कोई ऐसा दृष्टांत नहीं मिलता कि बिना चेतन की सहायता के अचेतन पदार्थ कुछ भी रचा गया है। बाइचांस उसे कहते हैं जैसे कभी किसी के छठी उंगली निकल आती है। यद्यपि यह भी शरीर का एक विकार है, स्वाभाविक नहीं।

क्या कारण है कि लोग ईश्वर को नहीं मानते।

अनीश्वरवादी लोग वस्तु को और उसमें होने वाली सहज क्रिया को मानते हैं। कर्ता को नहीं मानते और कारण को नहीं मानते। जो न मानने का निश्चय कर लें, उन्हें मनवाना बहुत कठिन है; पर वही व्यक्ति किसी अप्रत्याशित घटना पर ईश्वरीय सत्ता को अवश्य स्वीकार कर लेते हैं।

आस्तिक कहलाने वाले इन से घृणा करते और इनके प्रति दुर्वचन क्यों कहते हैं ?

यह उनकी भूल है अथवा अज्ञानवश ऐसा करते हैं। निर्व्यसनी, सदाचारी, सद्‌गुणी, परोपकारी, जीवमात्र के हितचिंतक, देश भक्त व्यक्ति ईश्वर की सत्ता को न मानने पर भी, उन्हें सच्चा आस्तिक समझना चाहिए और इससे विपरीत आचरण करने वाले को ईश्वरवादी

होने पर भी नास्तिक समझना चाहिए। ऐसे तथाकथित आस्तिकों से ईश्वर और धर्म दोनों की प्रतिष्ठा घटती हैं। यदि वे सच्चे रूप में ईश्वर की सत्ता को मानते, तो कभी उलटा आचरण नहीं करते।

इससे तो ईश्वर नहीं मानना ही अच्छा है।

सत्य की खोज करने वाले के लिए ऐसी बात कहना ठीक नहीं। ईश्वर नाम की सत्ता के सिद्ध होने पर उसे न मान कर उसकी जानकारी पूर्ण रूपेण न करना अकर्मण्यता है, वास्तविकता से मुँह मोड़ना है।

क्या आप अपनी बात असत्य सिद्ध होने पर उसे छोड देंगे?

अवश्य। कभी भी आप परीक्षा करके देख सकते हैं।

आपने कहा कि मात्र पुस्तकीय प्रमाण और अपने विश्वास पर आधारित न रहें, तो क्या आप वेद, शास्त्र, उपनिषदों को भी नहीं मानते?

पूर्व निर्दिष्ट संकल्प के अनुकूल बातों को मानते हैं। उसके विपरीत जो भी बातें होती हैं, हम नहीं मानते। हम लोक में प्रचलित प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार को अधिक मान्यता देते हैं। हाँ, वेद को प्रामाणिक मानते हैं; इसलिए कि यह सर्वज्ञ निर्भ्रान्त परमेश्वर जीवों के कल्याण के लिए, सर्गादि में दिया सत्य ज्ञान है। पर बहुत से मन्त्रों का शब्दार्थ कुछ और लगता है; भावार्थ कुछ और होता है। उनका अर्थ प्रसगानुसार निर्भ्रान्त सत्य की रक्षा करते हुए बुद्धिपूर्वक करना चाहिए। किन्तु लोग ऐसा नहीं करते, अपना मनमाना अर्थ करते हैं। इसलिए वेद को मानते हुए भी, उनके भ्रांत वेदार्थ को नहीं मानते।

वेदार्थ किस प्रकार से किया जाना चाहिए।

वेदार्थ, सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं करना चाहिए। अश्लील व भ्रष्ट अर्थ भी नहीं करने चाहिए। जीव मात्र के कल्याण की भावना को सम्मुख रखकर करना चाहिए। उसके रहस्य को समझकर उसका सदुपयोग करते हुए तर्क विज्ञान को भी साथ रखना चाहिए।

मैं ईश्वर के सर्वमान्य वास्तविक स्वरूप को जानना चाहता हूँ।

किसी सत्ता को मानने से पूर्व उसके सत्य स्वरूप को जानना अधिक महत्व रखता है। बिना जानने के मानने वाले लाभ नहीं उठा सकते। यही कारण है कि ईश्वर के नाम पर दुराचार, हिंसा आदि का विस्तार हुआ है।

अर्थ भेद कैसे होता है।

वैदिक वाङ्मय के उपनिषद् खण्ड में ऐसा आता है कि ईश्वर कहता है मैं एक एक हूँ, अनेक बन जाऊँ।[१] लोग समझते हैं ईश्वर ही प्रकृति, जीव का रूप धारण करके अनेक बन गया। वास्तव में यह बात नहीं है। इसका भाव यह है कि प्रकृति और जीवों का विकास करके अनेक बन जाऊँ। ध्यान में रखिए एक कहते ही उसे हैं. जिस मे अनेक नहीं रहते और अनेक एक नहीं हो सकता। वह तो एक ही है।[२]

ईश्वर, जीव, प्रकृति अविभाज्य हैं। प्रकृति द्वारा संसार बना है; तब इस संसार का विभाजन होता है। जीव शरीर धारण करता है, इसलिए वह शरीर छोड़ता है, पर ईश्वर शरीर न धारण करता है, और न छोड़ता हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ हैं, जीव अल्पज्ञ है और प्रकृति जड़ है। भला! ईश्वर में विरोधी गुण वाले कैसे उत्पन्न हो सकते हैं।

ईश्वर सर्वज्ञ होने का क्या कारण है ?

नित्य द्रव्य और उसके गुणों के लिए कारण का होना आवश्यक नहीं। कारण कार्य से पूर्व होता है और वेद कहता है कि ब्रह्मचारी मृत्यु को जीत लेता है[३] जब कि इतिहास कहता है कि भीष्म, दयानन्द तथा अन्य कई ब्रह्मचारी मृत्यु के ग्रास बन गए।

---

१. एकोऽहं बहु स्याम। तैतरीयोपनिषद्

२. न द्वितीयो न तृतीयो . . . . . सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
अथर्व का. १३ अनु. ४ सू. १ मन्त्र १५-२१

३. ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत। अथर्ववेद

तब आप इसका क्या अर्थ करेंगे ?

हम अटल सत्य की रक्षा करते हुए यह अर्थ करेंगे कि ब्रह्म कहते हैं ईश्वर को। ब्रह्म को प्राप्त करके मुक्ति में जीव विचरता है और अमृतत्व (परमानन्द) को प्राप्त कर लेता है। दूसरा, ब्रह्म कहते हैं ज्ञान को। तत्वज्ञानी मृत्यु से भयभीत न होते हुए शरीर को छोड़ कर भी मृत्युंजयी कहलाता है। शारीरिक मृत्यु तो जन्म के साथ ही पीछे लग जाती है।

अच्छा आप अब ईश्वर सम्बन्धी मेरे पूर्व प्रश्न का उत्तर दीजिए।

ईश्वर के नामों में ही उसके गुण, कर्म और स्वभाव मिल जाएँगे। उसके नाम अनन्त हैं। कार्मिक. गौणिक और अलंकारी। पर मुख्य नाम ओ३म् है। जैसे—व्यंजनों के अक्षरों में 'अ' व्यापक है। उसी प्रकार ईश्वर सब में व्यापक है। अब उसके कुछ नाम सुनिए।

ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, अविनाशी, अमूर्तिमान, प्रकृति से परे, विश्वंभर, मायापति, परिपूर्ण, समय से परे, स्वयंभू, अपरिवर्तनशील, नस-नाड़ियों और छिद्रों से रहित आदि है। इन नामों के आधार पर अपने पक्ष का मंडन और विपक्षियों के साकारवाद, अवसरवाद और प्रतिमा पूजन का खंडन करके दिखलाएंगे और साथ ही वचन-विरोध भी नहीं आने देंगे। किन्तु विपक्षागण इन नामों को मान्यता भी देंगे और खंडन भी कर देंगे।

आपका कहना सर्वथा सत्य है; किन्तु जब ईश्वर को सर्वव्यापक निर्विकारी मान लिया, तब वह साकार क्यों कर हो सकता है ? प्रकृति से ओत-प्रोत रहने वाला तो जीव है। ईश्वर तो प्रकृति से परे है।

आश्चर्य है आप ईश्वर को मृत्यु-जन्म से रहित भी मानते हैं और जन्मता-मरता भी मानते हैं। उसे आवागमन से रहित भी मानते हैं और आता जाता भी मानते हैं।

अनन्त गुणों वाला ईश्वर है, ऐसा क्यों मान लिया जाए ?

अनन्त गुणों वाला होने से ही वह रचना, पालना और संहार कर सकता है।

ईश्वर को एक ही क्यों माना जाए ?

ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव अद्वितीय हैं और वह सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से रहित है।

ईश्वर को एक मान कर अनन्त मानते हैं, ठीक है किन्तु ईश्वर को सर्वव्यापक क्यों माना जाए ?

व्यापक हुए बिना प्रकृति के गुणों का और जीवात्मा के किये हुए कर्मों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। और पूर्ण ज्ञान के बिना प्रकृति का पूर्ण विकास नहीं हो सकता और वह जीवों को कर्मफल न्यायपूर्वक, यथावत् नहीं दे सकता।

परमात्मा की भांति आकाश भी सर्व व्यापक है फिर परमात्मा अनुपम कैसे हुआ ?

आकाश ईश्वर में व्यापक नहीं है। प्रकृति और जीवों में भी व्यापक नहीं है। ईश्वर सब में व्यापक हैं।

आकाश जीवों में और प्रकृति में व्यापक क्यों नहीं है ?

आकाश और परमाणुओं में व्याप्य और व्यापक सम्बन्ध नहीं होता। अपितु आधार-आधेय सम्बन्ध होता है। सम्पूर्ण आकार वाली वस्तुओं के साथ संयोग करने से आकाश को विभु कहा जाता है और परमात्मा सर्वव्यापक परिभू द्रव्य है।[१]

परमात्मा को परिभू क्यों माने ?

परमात्मा सूक्ष्माति सूक्ष्म और महान् से महान्[२] होने के कारण सभी वस्तुओं में व्यापक होकर रहता है। केवल आकाश की भांति पदार्थों के साथ संयोग मात्र नहीं करता, अपितु सब वस्तुओं में प्रविष्ट होता है।[३]

परमात्मा नित्य कैसे है ?

---

१. 'परिभू स्वयम्भू' यजु ४०.८ ॥
२. अणोरणीयान् महतो महीयान् कठोपनिषद् ॥
३. ईशावास्य मिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् यजु. ४०.१

जैसे जीव और प्रकृति ।

व्यापक कैसे है ?

जैसे आकाश ।[१]

चैतन्य कैसे है ?

जैसे जीव ।

जब ईश्वर की उपमाएँ मिल गईं तब वह अनुपम कैसे रहा ?

ईश्वर की उपमा एकांगी मिलेगी, सर्वांगी नहीं अर्थात् एक गुण किसी में, दूसरा गुण किसी में और वह भी अन्तर के साथ ।

परमात्मा की शक्ति अथवा योग्यता का ह्रास क्यों नहीं होता ?

ह्रास नैमित्तिक गुण या शक्ति का होता है, क्योंकि परमात्मा में यह सब स्वाभाविक है; इसलिए सदा एक सी रहती हैं; ह्रास अथवा वृद्धि नहीं होती ।

स्वाभाविक गुणों का ह्रास-विकास नहीं होता, उदाहरण सहित समझाइए ।

जड़ता यह प्रकृति से पृथक नहीं हो सकती । इसी प्रकार जीवों का गुण है—अल्पज्ञता । यह गुण जीवों से पृथक नहीं हो सकता । परमात्मा के स्वाभाविक गुण हैं, सर्वशक्तिमत्ता संपन्नता, परिपूर्ण योग्यता, बुद्धिमत्ता, सर्वज्ञता, व्यापकत्व, आनन्द आदि । ये गुण परमात्मा से पृथक् कभी नहीं हो सकते । इसी प्रकार अल्पज्ञ जीव, सर्वज्ञ ईश्वर के गुण पुरुषार्थ करके कुछ सीमा तक धारण करता है । इसलिए वे गुण उसमें स्थायी नहीं रह सकते ।

परमात्मा हमें पाप करते समय क्यों नहीं रोकता ?

पाप करते समय मनुष्य में भय, संकोच और ग्लानि उत्पन्न कर वह रोकता है, पर मनुष्य जब ढीठ बनकर नहीं रुकता, तब वह उन कर्मों का फल देता है ।

आपकी भांति अन्य विद्वान् समझाने का यत्न क्यों नहीं करते ? आवेश में क्यों आजाते हैं ?

---

१. 'ओं खं ब्रह्म' यजुर्वेद

क्योंकि उसके पास उत्तर नहीं रहता।

परमात्मा हम से उत्तम कर्म क्यों नहीं करवाता ?

उत्तम कर्म करते समय परमात्मा प्रेरणा देता है, उत्साहित करता है। बस, वह इतना ही कर सकता है, अधिक नहीं। क्योंकि प्राणी कर्म करने में स्वतन्त्र है।

परमेश्वर ने हमें कर्म करने में स्वतन्त्र क्यों रखा ?

स्वतन्त्र होने से ही कर्म फल हमें पाने का अधिकार है। जिस का जो स्वाभाविक गुण होता है, वह बदला नहीं जाता। ईश्वर न्याय-कारी है। बिना कर्म किये फल देना, यह न्याय नहीं है।

तो क्या ईश्वर भी नियमों में बंधा हुआ है ?

वैज्ञानिक नियमों में रहना, बंधन नहीं कहलाता, अपितु उसकी महिमा है। नियमों को तोड़ना उच्छृंखलता है। प्रकृति पूर्णतः जड़ है। दोनों अपने नियमों पर चलते हैं और पशु पक्षी आदि भी अपने कर्म में बंधे हुए हैं। ये भोग योनियाँ हैं। इसलिए कर्म फल से वंचित है। यह मनुष्य ही ऐसा है, जो चाहे तो पतन की ओर अथवा उन्नति की पराकाष्टा तक पहुँच सकता है।

एक प्रश्न मैं आप से करता हूँ। यदि आप परमात्मा होते तो क्या करते ?

इस से उत्तम संसार बनाता। दुःख क्लेश इत्यादि उत्पन्न नहीं होने देता। मनुष्यों से उत्तम कर्म ही करवाता और बिना कर्म के भी मुक्ति दे देता।

आपके कथनानुसार ईश्वर जो चाहे कर सकता है, ऐसे मानने वाले लोग ईश्वर ने ऐसा क्यों नहीं किया, इसका उत्तर क्या देंगे ? इस प्रकार का संसार, मनुष्यों और पशु आदिकों को क्यों बनाया ? मानना पड़ेगा कि वह इससे उत्तम नहीं बना सकता था, इसीलिए ऐसा बनाया।

परमात्मा की आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, पर कहते हैं कि अन्न के दाने दाने पर खाने वाले का नाम लिखा है, क्या यह सच है ?

कई कहावतें निस्सार होती हैं। बोलचाल में प्रयुक्त होती हैं।

जब धरती को बना दिया, तो परमात्मा ने सड़कें और भवनादि भी क्यों नहीं बना दिया।

यदि सब कुछ उसने ही बना दिया होता, तो मनुष्य निकम्मा हो जाता। उस की बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। उस का समय कटना कठिन हो जाता और वह अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं ला सकता। इसलिए ये कुछ काम मनुष्य के लिए छोड़ दिये गये।

परमेश्वर ने अनेक मनुष्यों को सुन्दर, अनेक को असुन्दर और कितनों को ही सुखी अथवा दुःखी क्यों बनाया ?

पूर्व जन्म में जिसने सौंदर्य का सदुपयोग किया, उसे सुन्दर और जिसने दुरुपयोग किया उसको असुन्दर बना दिया। जिसने सुकर्म किया, उसे सुखी, और जिसने दुष्कर्म किया, उसे दुःखी बना दिया। फिर भी नियन्ता होकर भी वह अपनी ओर से जीवों के कार्यों में हस्तक्षप नहीं करता।

क्या वह मनुष्यों को इससे उत्तम शरीर और इससे उत्तम आकृति में नहीं ढाल सकता था ?

आप अपनी पसन्द का कोई चित्र उतार कर बताएँ कि किस प्रकार की आकृति आप चाहते हैं। परमात्मा ने मनुष्य के शरीर में इतना सौन्दर्य भर दिया है कि लोग उसके पीछ पागल हुए फिरते हैं। और उसी शरीर में इतनी घृणा भी भर दी है कि जब जीव निकल जाता है तो लोग उसे देखना और छूना तक नहीं चाहते। ध्यान में रखिए कि परमात्मा के कार्यों में संशोधन, परिवर्धन अथवा परिवर्तन नहीं होते। जिस प्रकार का ससार और जिस प्रकार की रचनाएँ वर्तमान में हैं, वैसी ही भूत में थीं और भविष्य में भी बनेंगी। जीव क्षण-क्षण में परिवर्धन, संशोधन एवं परिवर्तन कार्यों अथवा विचारों में चाहता है, परमात्मा का यह स्वभाव नहीं। यही अन्तर ईश्वर और जीव में सदा से रहा है।

ईश्वर को अनिर्वचनीय क्यों कहते हैं ?

मनुष्य अपनी योग्यतानुसार उसकी महिमा का वर्णन कर सकता है; परन्तु उसकी सम्पूर्ण महिमा का वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि जीव अल्पज्ञ है। अल्पज्ञ सर्वज्ञ का वर्णन नहीं कर सकता।

लोग जगत् को दुःख-सागर क्यों कहते हैं ?

जगत् में दुःख ही दुःख नहीं है, सुख भी है। यदि ऐसा न होता तो मनुष्य जीवन की आकांक्षा क्यों करता! किसी भी बात का सदुपयोग सुखदायी और दुरुपयोग दुःखदायी होता है। सीमा में रहने पर कोई भी कार्य सुखकारक और सीमा से बाहर रहने पर वही दुःखकारक बन जाता है। मन के विरुद्ध कार्य का नाम ही दुःख है।

ईश्वर का जो स्वरूप आप वर्णन करते हैं वही सत्य है, इस में क्या हेतु है ?

हमारे किये हुए स्वरूप के वर्णन में किसी का विरोध नहीं। इसके विपरीत अन्य मतों में विरोध स्पष्ट दिखाई देता है। यही एक हेतु है।

आपकी कही बातों का विरोध अन्य मत वाले क्यों करते हैं ?

आप ध्यान से देखेंगे, तो पता लगेगा कि प्रत्यक्ष में विरोध करने पर भी परोक्ष में वे इन्हीं बातों को मानते हैं। जैसे आने का प्रमाण जाना, आना जाने का प्रमाण और किसी का रहना उसके आने-जाने का प्रमाण है। इस बात को सभी मतावलंबी मानेंगे। पर पुनर्जन्म को मुसलमान, ईसाई नहीं मानेंगे; क्योंकि उनकी मत पुस्तक पुनर्जन्म को नहीं मानती। दुनिया गोल है, वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है। पर ये नहीं मानेंगे क्योंकि इनकी पुस्तक में चपटी लिखी हुई है। यदि ये इस सत्य को मान्यता दे दें तो उनको भय है कि अन्य मतावलंबी इन का बहिष्कार कर देंगे।

ईश्वर इन्द्रियों से परे है, यह साधारण मनुष्यों को कैसे समझाया जाए ?

ईश्वर और आध्यात्मिक विषय साधारण लोगों के लिए रुचिकर नहीं होते। वह ज्ञान स्वरूप है। उस को जानने के लिए कम से कम जितने ज्ञान की आवश्यकता है, उतना ज्ञान तो प्राप्त करना ही चाहिए।

जैसे कोई कहे कि मुझे टेलिविजन (दूरदर्शन) का विशेषज्ञ बनना है, तब उससे आप क्या कहेंगें ?

उस इतना योग्य बनना होगा कि वह उसे समझने की योग्यता प्राप्त करे ।

यहाँ पर आप उचित उत्तर दे सकते हैं, पर ईश्वर सम्बन्धी विषय पर इस प्रकार क्या नहीं सोचते ?

अखिल कोटि ब्रह्मांडों को ईश्वर का शरीर माना जाए तो क्या आपत्ति है ?

कोई आपत्ति नहीं है । ईश्वर के गुणों का विरोध न होते हुए माना जाना चाहिए । वास्तविक न मान कर केवल आलंकारिक मानकर चलना चाहिए ।

आपकी बातें समझ में आ रही हैं और भी समझना है । बताइए कि प्रत्यक्ष प्रमाण[१] किसे कहते हैं ?

जो निर्दोष आँखों से देखा जाए. निर्दोष कानों से सुना जाए, निर्दोष नाक से सूँघा जाए, निर्दोष जिह्वा से चखा जाए और निर्दोष त्वचा से छूआ जाए ।

अनुमान प्रमाण किसे कहते हैं ?

धुएँ को देख कर अग्नि का, गुणों को देखकर गुणी का, कला को देख कर कलाकार का, जन्म को देखकर मृत्यु का, एक किनारे को देखकर दूसरे किनारे का, ऊपर के भाग को देखकर नीचे के भाग का, शरीर के द्वारा आत्मा का और संसार को देखकर परमात्मा का ज्ञान अनुमान प्रमाण है ।

क्या इन्द्रियों के द्वारा जानी गई घटनाएँ भी असत्य होती हैं ?

हां, होती हैं । जब इन्द्रियां और मन ठीक काम न करे या धोखा खा जाएँ । जैसे–जादूगर अंगों को काट काट कर बतलाता है । वास्तव

---

१. सन्देह और बाधा रहित निश्चयात्मक ज्ञान को प्रयक्ष कहते हैं ।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

न्यायदर्शन १.१.४

में ऐसा नहीं होता। आँखों के रहते हुए भी दीखने वाली वस्तु को भी नहीं देखा जा सकता। जैसे अपनी आँखों को अपनी आँखें नहीं देख सकतीं। अपनी पीठ को स्वय नहीं देख सकते।

आईने के द्वारा तो देखा जा सकता है ?

नहीं देखा जा सकता, उसके प्रतिबिम्ब को देख सकते हैं।

परमात्मा के विशेषण क्या मनुष्य के साथ जोडे जा सकते हैं ?

कदापि नहीं। हां, जीव परमेश्वर के दया, न्याय, परोपकारादि गुण अपनाकर दयालु, न्यायकारी आदि कहला सकता है, पर जब अल्पज्ञ, अल्प शक्तिमान होने के कारण परमेश्वर की भांति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, नहीं कहला सकता। जैसे उत्तम गुणवान् व्यक्ति धर्मात्मा, पुण्यात्मा, महात्मा कहला सकता है, पर परमात्मा नहीं कहला सकता।

मैं समझ गया। एक दूसरे से बडा होने के कारण सभी बडे हो सकते हैं अर्थात् ब्रह्म कहला सकते हैं, पर परब्रह्म नहीं कहला सकते। एक दूसरे को ज्ञान देने के कारण प्रत्येक व्यक्ति गुरु कहला सकता है पर परम गुरु तो वह परमात्मा ही है। ऐसे ही सब विद्वान् देव तो हो सकते हैं परन्तु महादेव तो सृष्टिकर्ता परमात्मा ही हो सकता है।

आपने ठीक समझा। तात्पर्य, आशय तथा भावार्थ को ठीक-ठीक न समझने के कारण ही अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

ईश्वर सर्वज्ञ कैसे है ?

प्रकृति जड़ है, अर्थात् प्रकृति के परमाणु ज्ञान शून्य हैं। और जीव चेतन होने से ज्ञान गुण वाला है। परन्तु परमात्मा की अपेक्षा अल्पज्ञ है और ईश्वर सर्वज्ञ है, सच्चिदानन्द है। जीव सत्चित है और प्रकृति सत् है। प्रकृति भोगे जाने वाली है अर्थात् भोग्या है। जीव भोक्ता, कर्ता और द्रष्टा है और ईश्वर कर्ता, द्रष्टा अर्थात् साक्षी और कर्माध्यक्ष है। ईश्वर ने जीवों के लिए प्रकृति के उपादान से जगत् का निर्माण किया। जगत् बनाने का अन्तिम उद्देश्य

जीवों को सुख पहुंचाना है—शुभकर्मों के द्वारा मुक्ति प्राप्त करवाना है।

ईश्वर का मिलना कैसे होता है ?

ईश्वर के गुण अपनी शक्ति अनुसार धारण करना मिलना कहाता है। और आत्मा को उसका साक्षात्कार योग द्वारा होता है। साक्षात्कार कैसे होता है ? यह योग साधन करने से जाना जाता है। शरीरधारी से शरीरधारी जैसे मिलता है, परमात्मा इस प्रकार नहीं मिलता। मैं एक बात आपसे पूछना चाहता हूं, यदि परमात्मा शरीर धारण कर आपसे मिलने आवे तब आप क्या कहेंगे ?

यही कि हमें धन दो; यश दो, हमारे परिवार को सुखी रखो, और देश में सुख शांति रहे।

यह प्रार्थना आज भी करते हैं या नहीं ?

हां करते हैं।

देने वाला यदि सशरीर हो तो मिलने पर कभी भी दे सकता है। फिर सशरीर मिलने पर आपने विशेष क्या लाभ उठाया ! और कहते हैं कि पूर्वकाल में परमात्मा ने भक्तों को सशरीर दर्शन दिये। जैसे भक्त प्रह्लाद ओर ध्रुव को विष्णु ने, रावण को शिव ने, रामायण के समय में राम ने वानर ऋक्ष मनुष्यादि को, महाभारत के समय कृष्ण ने युधिष्ठिर, कंस और जरासंघ को। यदि यह सच मान भी लिया जाए तो यही मानना पड़ेगा कि परमात्मा के शरीर से भक्त के शरीर से मिलना हुआ। किन्तु भक्त को परमात्मा का जो वास्तविक शुद्ध स्वरूप है, उसका तो ज्ञान नहीं हो सका। ईश्वर में मेल करना, धर्म में मेल करना, इतिहास में मेल करना, घी में तेल, तेल में मेल ऐसे खेल करना मनुष्य के स्वभाव में है। रामायण, महाभारत, पुराण और उपनिषदों में ऐसी कई बातें लिखी हुई हैं जो एकदम अनहोनी हैं फिर भी लोग उन्हें सत्य मान कर चलते हैं।

क्या वेदों में भी मिलावट हुई है ?

नहीं। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। वेदों पर पहरेदार हैं जिन्होंने कि सृष्टि के आदि से वेदों को कई प्रकार से कण्ठस्थ करके स्वर मात्रा आदि की रक्षा की है। जिसमें एक मात्रा भी घट बढ़ नहीं सकती। इस कारण इनके कोई पाठ-भेद या मिलावट नहीं हुई है।

हाँ महीधर, उवट, सायणादि भाष्यकारों ने अपनी ओर से अर्थ का अनर्थ कर दिया और सृष्टिक्रम के विरुद्ध अश्लील अर्थ भी कर दिये जिससे वेदों के प्रति लोगों में भ्रम और अनास्था उत्पन्न हो गयी।

ये पहरेदार कौन हैं ?

घनपाठ, जटापाठ आदि वेदोच्चारण की पद्धतियाँ हैं। जिनके द्वारा तुरत पता लग जाता है कि शुद्ध क्या है, मिलावट क्या है।

परमात्मा सर्वशक्तिमान होते हुए भी सब कुछ क्यों नहीं कर सकता ?

इसलिए नहीं कर सकता, क्योंकि जो कर्म परमात्मा के हैं, उन्हें जीवात्मा नहीं कर सकता। जिन्हें जीव कर सकता है, परमात्मा नहीं करता। जैसे अन्न के दानों को परमात्मा उत्पन्न करता है, किन्तु अनेक वैज्ञानिक मिलकर भी उत्पन्न नहीं कर सकते। मानव रोटी बना लेता है परन्तु परमात्मा नहीं बना सकता। कारण यह है कि प्रथम तो परमेश्वर को अपनी सत्ता के लिए किसी चीज़ की आवश्यकता ही नहीं। दूसरे वह अपने नियम को आप भग नहीं कर सकता। करे तो अज्ञानी और अल्पशक्तिमान सिद्ध हो। उसके सब काम पूर्ण होते हैं।

परमात्मा विना करों के सभी प्रकार की रचनाएँ कर लेता है। मनुष्य अपने हाथों से रचना करता है। परमात्मा विना आंख के सब जीवों के कर्मों का साक्षी है। जीव बिना आंखों के अन्धा है। परमात्मा विना कानों के सबकी सुनता है जब कि जीव बिना कानो के वहरा।[१]

---

१. अपाणि पादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति सर्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विध नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी।

परमात्मा सर्व शक्तिमान होते हुए भी सब कुछ स्वेच्छा से नहीं कर सकता, यह तो आश्चर्य की बात है !

यदि सर्वशक्तिमान का अर्थ यह लिया जाए कि वह सब कुछ कर सकता है तो फिर यह प्रश्न भी खड़ा हो सकता है। कि क्या परमात्मा ऐसा पहाड़ भी बना सकता है, जिसे वह स्वयं न उठा सके।

कुछ काम ईश्वर के ऐसे हैं जिनमें मनुष्य हस्तक्षेप कर सकता है। जैसे परमात्मा ने जीवों को जन्म दिया, उन जीवितों में से कुछ को मनुष्य अपनी इच्छा से मार देता है, और अन्य प्रकार से भी वह मानव संख्या, पशु पक्षियों की संख्या घटा बढा सकता है। क्या यह ईश्वर के कार्य में हस्तक्षेप नहीं हुआ ?

नहीं। क्योंकि इस प्रकार का हस्तक्षेप करने पर भी सफलता बिना परमेश्वर की व्यवस्था के संभव नहीं। मनुष्य अपने स्वार्थ और अज्ञानतावश अपनी कर्म-स्वतन्त्रता का दुरुपयोग तो कर सकता है, किन्तु उसका फल उसे भोगना पड़ेगा। पर दुरुपयोग की सफ़लता भी परमेश्वर की व्यवस्था के अनुसार ही प्राप्त हो सकती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु फल भोगने और भुगवाने में परतन्त्र है।[१]

आम में कलम लगा देना और आज-कल संभोग के बिना वीर्य द्वारा पशुओं में गर्भाधान कराना यह मनुष्य द्वारा हस्तक्षेप ईश्वरीय व्यवस्था-नुसार ही है। जगत् के अन्य पदार्थों में भी परिवर्तन होते हैं। जैसे-पानी को अग्नि से गरम कर देना। पंप से पानी को ऊपर चढ़ा देना। यह सब ईश्वरीय व्यवस्थानुसार ही है।

कार्यों की पूर्ति करने में परमात्मा ने हमारे सामने इतनी कठिनाइयां क्यों उत्पन्न कर दीं ?

आप पुरुषार्थ को कठिनाई कहते हैं। कर्म करना जीवों का स्वभाव है। वे अपने स्वभावानुसार ही कर्म करते हैं। कर्म न करने पर उन्हें

---

१. कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि तसहि फल चाखा॥

चैन नहीं पड़ता। परमात्मा ने जितनी वस्तुएँ दे रखीं हैं वे सब बिना मूल्य की हैं। मनुष्य उन वस्तुओं को अपना पारिश्रमिक लेकर महंगा कर देता है। और यह बात ध्यान में रखिए. जिनके बिना मनुष्य का काम चल सकता है, वे सब अत्यन्त महंगी हैं। और जिनके बिना जीवन नहीं रह सकता वे अपेक्षाकृत सस्ती हैं। जैसे-- हीरा अत्यन्त महंगा है, सोना उससे सस्ता है, ताम्बा उससे सस्ता है, लोहा उससे सस्ता है, पत्थर उससे सस्ता है, मिट्टी उससे सस्ती है, पानी उससे सस्ता है, हवा उससे सस्ती है और आकाश उससे सस्ता है।

ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों अनादि-अनन्त हैं, फिर ईश्वर की विशेषता क्या रही ?

ये तीनों काल की दृष्टि के समान हैं, पर योग्यता अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव का अन्तर है। योग्यता का अन्तर ही महत्व रखता है। जैसे--पच्चीस वर्षीय योग्य व्यक्ति पचास वर्षीय साधारण व्यक्ति पर शासन करता है।

ईश्वर ने प्रकृति और जीवों को उत्पन्न नहीं किया फिर उन पर शासन करने का उसे क्या अधिकार है ?

व्यवहार में देखिए. पत्नी को पति उत्पन्न नहीं करता पर वह उस पर शासन करता है, उस पर अधिकार जमाता है। पुत्री को उत्पन्न करके भी पिता न शासन कर सकता है और न अधिकार दिखाता है। शक्तिशाली योग्य व्यक्ति का निस्वार्थता से किसी की भलाई करना और उस पर अधिकार चलाना अन्याय नहीं है। जैसे--सुयोग्य शासक तथा योग्य अध्यापक। ये प्रजा और शिष्यों पर उनकी भलाई के लिए अधिकार रखते हैं, यह पाप नहीं है।

ईश्वर और जीव की सत्ता जब भिन्न है तब जीवों को ईश्वर का अंश क्यों कहा जाता है ?

प्रथम तो जीव ईश्वर का अंश नहीं है, दोनों पृथक हैं। दूसरा, ईश्वर अविभाज्य है, इस बात को नहीं भूलना चाहिए। अंश उसका होता है जिसके टुकड़े हो सकते हैं। परमेश्वर अखण्ड है। इसलिए उसका

कोई अंश नहीं हो सकता। हाँ, जीव चेतन होने से परमेश्वर का वह सखा है— सदा साथ रहता है। इसलिए काल और अवकाश की दृष्टि से वह कभी उससे अलग नहीं हो सकता। शास्त्र जीव को ईश्वर का पुत्र कहते हैं। वह परमेश्वर जीवों को शरीरों के साथ संयुक्त करता है। उसको यह विशेषण इसलिए दिया गया है क्योंकि जीव शरीर से संयुक्त हो जाने पर भी नित्य रहता है।

ईश्वर सर्वाधार है, आधार किसे कहते हैं ?

'क' का अस्तित्व रहते हुए भी 'अ' के संयोग के बिना 'क' नहीं बोला जा सकता। 'व्यंजन' स्वतन्त्र होते हुए भी 'स्वर' के आधीन हैं। उच्चारण के लिए स्वर की अपेक्षा रखते हैं। इसे उदाहरण से समझाता हूँ। आंखों की पुतलियों (बल्वों) में आँखों के द्वारा ज्योति आती है। आत्मा को परमात्मा के द्वारा आनन्द व शक्ति मिलती है और परमात्मा स्वयं आह्लादकारक एवं ज्योतिस्वरूप है। इसको यों समझिए— इन्द्रियों का इन्द्रिय, प्राणों का प्राण, मन का मन, आत्मा का आत्मा परमात्मा है। उसका आधार कोई नहीं। संसार के सभी कार्य नियमबद्ध द्रव्यों एव गुणों के आधार पर होते हैं। जैसे— रेडियो द्वारा बातें सुनी जाती हैं। उस यन्त्र में शब्दो को पकड़ कर छोड़ने का गुण है। बिजली में शब्दों को दूर तक पहुँचाने का गुण है। शब्द नित्य है। इन गुणों के कारण ये सब कार्य होते हैं। यन्त्र में किंचित भी भूल हो जाए तो यन्त्र कार्य नहीं कर सकता।

इसे और स्पष्ट करके समझाइए।

प्रत्येक द्रव्य के गुणों को यथावत् जानकर वैज्ञानिक लोग नानाप्रकार के आविष्कार करते हैं। द्रव्यों के गुणों को जान लेना ही वैज्ञानिकों की विशेषता है। इससे स्पष्ट है कि गुणों का आधार द्रव्य है। जो पदार्थ जिसके आश्रय में रहता है वह उसका आधार या अधिष्ठान कहलाता है। परमेश्वर सर्वाधार और सर्वाधिष्ठाता है।

परमात्मा को दयालु भी कहते हैं और न्यायकारी भी, क्या यह विरोध नहीं हुआ ?

यह विरोध नहीं, विरोधाभास है। ईश्वर जीवों को कर्मानुसार दण्ड देता है। यह उसका न्याय है, और जीवों को उस दण्ड को सहन करने

की शक्ति का देना, यह उस की दया है। संसार के जितने भी प्राणी हैं, वे कर्मानुसार योनियां प्राप्त करते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियों में जीवों को उनके कर्मानुसार भेजकर उन्हें उन्नति का अवसर देना, यह परमात्मा की दया है। इसे यों भी समझिए। परमात्मा अपनी ओर से दया नहीं करता। मनुष्य उत्तम कर्म करके शुभ फल प्राप्त करता है। तब ईश्वर प्रसन्न हुआ ऐसा जीव कह देता है। और जब दुष्कर्मों का फल पाता है, तब रुष्ट हुआ ऐसा समझ लेता है। कई वाक्यों के शब्दार्थ और भावार्थ भिन्न होते हैं। जैसे-रेल के निश्चित स्थान पर पहुँचने पर प्रायः कहा जाता है ग्राम आ गया। ग्राम तो नहीं आता, यात्री पहुँचता है। प्रायः कहा जाता है यह सड़क कहां जाएगी। सड़क तो वहीं रहती है, यात्री जाता है।

ईश्वर जीवों में व्यापक है, तो क्या उन जीवों के सुख-दुःखों का अनुभव उसे होता है ?

ईश्वर व्यापक होते हुए भी निर्लिप्त है। प्रकृति से परे है। दुःखों से दूर है। कैसे ? जैसे कमल पत्र। वह समय से भी परे है। उसके लिए भूत भविष्य नहीं होते। केवल वर्तमान ही रहता है। अतः जीवों के सुख-दुखों का उसे ज्ञान तो होता है, पर अनुभूति नहीं होती।

ईश्वर गतिमान नहीं हैं, फिर संसार को गति कैसे देता है। चुम्बक जैसे स्वयं गति नहीं करता और गति देता है ऐसे ही क्या ?

आपने ठीक समझा। इसे यों भी समझिए। जैसे आत्मा एक स्थान पर रहता हुआ सारे शरीर को गति देता है।

परमात्मा निर्विकार है तो विकारी कौन है ? और विकार किसे कहते हैं ?

उत्पन्न होना, बढ़ना, फैलना, सिकुड़ना, नष्ट होना, रुक जाना अर्थात् रूपान्तर हो जाना, इस को विकार कहते हैं। परमात्मा इन बातों से परे है। ये बातें आत्मा से भी परे हैं। मात्र प्रकृति में ही घटती हैं। अर्थात् घटना भौतिक वस्तुओं में होता है, अभौतिक में नहीं।

क्या परमात्मा अनन्तकाल से सृष्टि करते-करते कभी थकता नहीं, ऊबता नहीं ?

परमात्मा स्वभाव से सर्व शक्तिमान है। आनन्दघन है। इसलिए न वह थकता है, और न वह बेजार होता है। वह आवश्यकताओं से भी परे है। आवश्यकता का होना और उसकी पूर्ति का न होना ही दुःख है। इच्छा-कामना की पूर्ति न होने पर भी दुःख होता है। परमात्मा इच्छा रहित है। हाँ, उसको ईक्षण होता है।

अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए काम करना, इच्छा कहलाती है, और अन्यों की भलाई के लिए काम करना ईक्षण कहलाता है, ऐसा एक विद्वान् से मैंने सुना है। क्या यह सच है ?

हाँ, उस विद्वान् ने ठीक कहा है।

परमात्मा दूर भी है और निकट भी है।[१] यह विरोध कैसा ?

यह विरोध नहीं, विरोधाभास है। परमात्मा समय और स्थान से निकट है, ज्ञान और गुणों से दूर है। निकट तब होता है, जब हम उसे ठीक ठीक जान लें और उसके गुणों को धारण करलें। इसी को ईश्वर का सान्निध्य कहते हैं।

क्या जगत् को ब्रह्ममय मानना उचित है ?

ब्रह्म चैतन्य है। जगत् जड है। इनका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, इस को ध्यान में रखना चाहिए। लोग जो कहते हैं ब्रह्म ही जगत् है, यह बात मिथ्या है।

शरीर में से जीव निकल जाता है, पर परमात्मा तो व्यापक होने से वहाँ रहता है। फिर शारीरिक क्रियाएँ क्यों बन्द हो जाती हैं ?

इसीलिए कि जिन क्रियाओं का निमित्त जीव था वह निकल गया, तब वे क्रियाएँ स्वतः बन्द हो गईं। और जिनका ईश्वर से सम्बन्ध है, वे हो रही हैं। इससे जीव और ईश्वर की सत्ताएँ भिन्न भिन्न हैं, यह सिद्ध होता है।

---

१. 'तद्दूरे तद्वन्तिके'। यजु. ४०

जीव सुखी और दुःखी क्यों होता है ?

अल्पज्ञ होने से । आवश्यकताओं का उत्पन्न होना, और उनकी पूर्ति के न होने से दुःख होता है और इच्छा के विरुद्ध हो जाने से भी दुःख होता है ।

आवश्यकताएँ और विवशताएँ हानिकार हैं अथवा लाभकारी ?

अल्पज्ञ जीव के लिए आवश्यकताओं और विवशताओं का होना स्वाभाविक व अनिवार्य है । ये एक प्रकार से वरदान और अभिशाप दोनों भी हैं । आवश्यकताओं के होने से ही मनुष्य काम करता है अन्यथा वह अकर्मण्य हो जाता और ससार का व्यवहार न चलता ।

सुख-दुःख का अनुभव किससे किस को होता है ?

इान्द्रयां और मन के माध्यम से अनुभव आत्मा को होता है । इनके विना जीव को अपने अस्तित्व का भान नहीं होता । जीवों का सहज ज्ञान अत्यल्प होता है । उसे नैमित्तिक ज्ञान अधिक प्राप्त हो सकता है । विशेष ज्ञान बढ़ाने पर मानव महान् बनता है । ईश्वर द्वारा प्रकृति का विकास होता है । मनुष्यों का हस्तक्षेप होने से ह्रास और विनाश हो जाता है । जैसे कि मिट्टी से भवन बनता है और मनुष्य का हाथ लगने से विकास रुक जाता है । अंततः वह नष्ट हो जाता है ।

नैमित्तिक, स्वाभाविक तथा विशेष ज्ञान वाली बात विस्तार से समझाइए ?

देखना, सुनना, सूंघना, रसास्वादन करना, स्पर्श होना आदि स्वाभाविक (सहज) ज्ञान है । इसी स्वाभाविक (सहज) ज्ञान के रहने पर अन्य स्वाध्यायादि के द्वारा देखकर, सुनकर, अध्ययन करने पर जो प्राप्त होता है, वह नैमित्तिक ज्ञान है । उसके पश्चात् स्वयं के चिंतन करने पर विशेष ज्ञान बढ़ाया जाता है, और मनन न करने पर क्षीण हो जाता है । पर स्वाभाविक ज्ञान तो बना ही रहता है । जिसके बनाने से वस्तु बने, न बनाने से वस्तु स्वयं आप न बने, दूसरे को प्रकारांतर में बना देवे, यह निमित्त कारण है । जो बनाने में

साधन हो, सृष्टि में पदार्थों को लेकर अनेक विध कार्यांतर बनाने वाला हो जिस के लिए ईश्वर ने रचना की, यह साधारण निमित्त कारण है। और जिसके लिए कुछ बने नहीं, जो अवस्थान्तर से नियम पूर्वक किसी चेतन सत्ता के द्वारा कुछ बने भी, बिगड़े भी, वह उपादान कारण कहलाता है।

ईश्वर निराकार होते हुए भी सृष्टि का निर्माण बिना हाथों के कैसे कर देता है ?

जीवात्मा बिना हाथ के अपने अंगों को हिलाता है, परन्तु बाहर की क्रियाओं के लिए हाथ-पांव की आवश्यकता होती है।

ईश्वर सर्व व्यापक होने के कारण उसके द्वारा जो क्रिया हो रही है वह उसके अन्दर ही हो रही है। क्योंकि उसके बाहर तो कुछ है ही नहीं। इस समय भी सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वृक्षादि बिना हाथों के क्रिया-रत हैं। ध्यान में रखिए बाहरी इन्द्रियां साधन हैं। वस्तुतः इन्द्रियों को बाह्य विषयों में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भीतर से मिलती है।

ईश्वर और आकाश का अन्त कहीं तो होना चाहिए ?

हमारा पूछना है कि इनका अन्त क्यों होना चाहिए क्योंकि इन का आदि ही नहीं हैं। दूसरे, इनके अन्त के बाद क्या होना चाहिए ?

शून्य ।

जैसे आपके कहे शून्य का अन्त नहीं होता वैसे ही ईश्वर और आकाश का अन्त नहीं होता।

धरती का केन्द्र बिन्दु कहां है ?

जो साकार वस्तु गोल होती है, उसका तो बाहरी केन्द्रबिन्दु कहीं भी हो सकता है परन्तु उसका मध्य केन्द्र बिन्दु नियत होगा। और जो ब्रह्माण्ड है, उस ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु नियत नहीं किया जा सकता और उसका आधार भूत केन्द्र बिन्दु परमात्मा होता है।

ईश्वर को ऊपर की ओर उंगली उठाकर क्यों बताया जाता है ?

अपने गुणादि कर्मों से ईश्वर सबसे ऊँचा अर्थात् सर्व श्रेष्ठ अधिष्ठाता है। इस भाव से ऐसा बताया जाता है। वास्तव में वह सब स्थान पर है।

बिना शुभ कर्म किये, वह मुक्ति क्यों नहीं देता ?

नहीं देता, क्योकि कर्मों के अभाव में फल का देना यह न्याय नहीं है। इसके अतिरिक्त जीव चेतन होने के कारण उसमें स्वाभाविक कर्म करने की प्रवृत्ति है। इसलिए जीव का शुभाशुभ कर्म आवश्यक है। फिर तदनुसार उसका फल परमात्मा अवश्य प्रदान करेगा।

संसार के सभी मतावलंबी ईश्वर द्वारा कर्म-फलों को क्षमा किया जाना मानते हैं।

क्षमा मांगने पर भी वे दुःखी क्यों है ? क्षमा करेगा तो सभी को करेगा, नहीं करेगा तो किसी को नहीं करेगा। पुण्य कार्मों का फल चाहना, पाप कर्मों का फल न चाहना, अपने को चतुर और परमात्मा को मूर्ख समझना हुआ कि नहीं ? किसी भी न्यायाधीश को रिश्वत लेने व सिफारिश सुनने पर दोषी कहा जाता है तब पापियों को क्षमा करने पर, पूजा आदि खुशामद द्वारा क्षमा पाना दोष नहीं है क्या ? बार बार अपराध करने वाले को बार बार क्षमा करना यह पृथ्वीराज चौहान का मोहम्मद गोरी को क्षमा करके दुर्गति पाने के समान बात नहीं होगी क्या ? क्षमा मांगना कायरता है। अपराध हो जाने पर उसका दण्ड भोगने के लिए तैयार रहना वीरता है। पापों से डरना चाहिए, पाप का फल भोगने में नहीं डरना चाहिए। पापियों से नहीं डरना चाहिए और पाप से सदा डरना चाहिए।

जन्म मृत्यु किसे कहते हैं ?

शरीर में जीव के आने को जन्म कहते हैं और शरीर को छोड़ कर जाने का नाम मृत्यु है। मूल रूप में प्रकृति नित्य है, जीव भी नित्य है। इसलिए जन्म कहते हैं प्राकृत शरीर द्वारा जीव के प्रकट होने को, शरीर में जीव के संयोग होने को, दीखने को, बनने को और मृत्यु कहते हैं शरीर को छोड़कर जीव के ओझल होने को, जाने को, बिछुड़ने को, न दीखने को।

इसी को लौकिक व्यावहारिक भाषा में जीव की मृत्यु और प्रकृति (संसार) का विनाश कहते हैं। परन्तु परमात्मा तो सभी प्रकार से जन्म-मृत्यु से परे है। इसे यों भी समझिए। किन्हीं जीवों का किन्हीं

शरीरों के साथ अभिमानी जीव के रूप में सहयोग होना, जीवों का जन्म और उन उन शरीरों से उन उन जीवों का वियोग हो जाना मृत्यु कहलाती है। वैसे वास्तव में न जीव जन्मता है और न मरता है।

क्या परमात्मा अपनी योग्यता और शक्ति का अन्त बता सकता है ?

हाँ, बता सकता है कि मैं अनन्त हूँ।

यह तो उसकी दुर्बलता हुई ?

अच्छा यह बताइए कि एक धनी अपनी सम्पदा का मूल्यांकन नहीं कर सकता और दूसरा कर सकता है। दोनों में कौन महान् कहलाएगा ?

जो मूल्यांकन नहीं कर सकता।

अपने प्रश्न का उत्तर आपने स्वयं ही दे दिया। जो स्वाभाविक गुण-धर्म होता है, उसे ऊपर से लाना नहीं पड़ता।

क्या परमात्मा रचना, पालना और प्रलय आदि करते समय कल्पना, संकल्प, विचार आदि करता है ?

रचना, पालना, प्रलय सर्वदा होते रहते हैं। यदि परमात्मा विचार करता है ऐसा मान लेने पर यह मानना पड़ेगा कि वह विचार करता ही रहता है। जिसके सामने समस्या होती है, उसको विचार करना पड़ता है। परमात्मा के सामने कभी किसी समस्या का कोई प्रश्न खड़ा नहीं होता। जैसे—मनुष्य को स्वाभाविक कार्य में विचारना नहीं पड़ता, जैसे श्वास लेते समय सोचना नहीं पड़ता कि श्वास लेना है, ठीक वैसे ही सृष्टि-रचना में परमेश्वर को विचारना नहीं पड़ता कि कैसे करूँ किससे कब करूँ ? परन्तु वह ईक्षण करता है। अर्थात् जीवों के और प्रकृति के परमाणुओं का ईक्षण करता है।

सृष्टि की आयु किसी ने पांच सहस्र वर्ष, किसी ने कुछ तो किसी ने कुछ बताई है ? आप के विचार में कितनी है, आधार के साथ बताइए ?

लोहा, तांबा, पीतल, चांदी, सोना, हीरा, पन्ना, पत्थर पहाड़,

नदियां और समुद्र के खारापन को सामने रखकर विद्वानों ने दो अरब वर्षों के लगभग निश्चित की है।

धरती गोल है, इस का क्या प्रमाण है ?

धरती आरम्भ से घूमती आ रही है। घूमने के कारण गोल है। इसीलिए इस का नाम भू-गोल है।

घूम रही है इस का क्या प्रमाण है ?

दिन-रात का होना, ऋतुओं का होना, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

क्या आकाश भी गोल है ?

हाँ। जो चारों ओर से पूर्ण और असीम होगा, वह गोल ही होगा। इसलिए इसका नाम खगोल है।

तो क्या परमात्मा भी गोल है ?

माना जाए तो कोई आपत्ति नहीं है।

सृष्टियां अनेक हैं, इस का क्या प्रमाण है ?

एक सृष्टि अनेक सृष्टियों का प्रमाण है। जैसे किसी एक पशु को देख लेने पर उसके परिवार का और वैसे ही अनेक पशुओं के होने का प्रमाण है। वैज्ञानिकों ने भी अनेक सृष्टियों का होना मान लिया है।

क्या सूर्य भी घूमता है ?

धरती भिन्न भिन्न स्थानों पर चलती हुई घूमती है। सूर्य एक ही स्थान पर घूमता है, और सूर्य के अधीनस्थ ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं।

फिर सूर्य निकला, डूबा, ऐसा क्यों कहते हैं ?

जैसे एक रेल खड़ी है, दूसरी रेल दौड़ती चली जा रही है। खड़ी हुई रेल में बैठे हुए लोग, अपनी रेल दौड़ रही है, ऐसा समझ लेते हैं। वैसे ही सूर्य आता-जाता हुआ मालूम पड़ता है।

वायुयान का वेग कम और धरती का अधिक होने से यान को छोड़ कर धरती आगे निकल जानी चाहिए, ऐसा क्यों नहीं होता ?

धरती के आकर्षण से यान धरती की परिधि को नहीं छोड़ सकता। इलिए वह यान उसकी परिधि में घूमता रहता है।

जब धरती घूमती है, तब ध्वनि सुनने में क्यों नहीं आती ?

प्रथम तो हर एक घूमने वाले पदार्थ की ध्वनि नहीं होती। जैसे सूर्य की। दूसरे, धरती की गति अति तीव्र होने से, स्तब्धावस्था में पहुँच जाती है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु की गति की ध्वनि यदि हो तो गतिशील वस्तु के बाहर से ही सुनाई देती है, भीतर से नहीं। बशर्ते गतिशील वस्तु के सामने अन्य ध्वनि वाली गतिशील वस्तु न हो।

क्या परमात्मा के लिए भी 'अवस्तु' से 'वस्तु' अर्थात् अभाव से भाव उत्पन्न करना असम्भव है ?

बिना कारण के कार्य का होना असम्भव है। परिपूर्ण परमात्मा के सम्बन्ध में यह सोचना कि वह अभाव से भाव या नास्ति से अस्ति अथवा असत् से सत् करता है, असंगत है।

क्या कार्य, बिना कारण के नहीं होता ? और कारण का गुण ही कार्य में आता है ?

हाँ, कार्य बिना कारण के नहीं होता। जैसे घडा मिट्टी के बिना और मकान ईंटों के बिना नहीं बनता। कारण का गुण कार्य में आता है। जैसे मिट्टी के गुण घड़े में आते हैं और वनस्पति के गुण ओषध अर्थात् दवा में आते हैं।

द्रव्य कितने माने गये हैं ?

द्रव्य ९ माने गये हैं।

१. पृथिवी २. जल ३. अग्नि ४. वायु ५. आकाश
६. काल ७. दिशा ८. आत्मा ९. मन।

इन में परमात्मा का नाम नहीं है, परमात्मा भी तो द्रव्य है।

परमात्मा चेतन होने के कारण, आत्मा शब्द से ही गृहीत होता है। जैसे–पुरुष कहने से महापुरुष उसी में आ जाता है।

कृपया इन द्रव्यों के गुण-धर्म क्या हैं, बताइए।

आत्मा अर्थात् जीवात्मा का गुण–यह चेतन पदार्थ है। यह जन्म-मरण के चक्र में निरन्तर रहता है, जब तक कि उसकी मुक्ति नहीं हो जाती। फल की आकांक्षा न कर उत्तम कर्म करके मुक्त अर्थात्

जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता हैं किन्तु परान्तकाल तक अर्थात् मुक्ति के समय की अवधि तक मोक्ष-सुख का भोग कर पुनः जन्म-मरण के चक्र में घिर जाता है।

मन का गुण– सुख दुःख आदि की उपलब्धि का अनुभव कराना। यह जीव की आन्तरिक इन्द्रिय है। इसका कार्य संकल्प–विकल्प करना है। यह आत्मा और इन्द्रियों[१] के बीच का माध्यम है। अन्य मतावलम्बी मन की पृथक सत्ता नहीं मानते। मात्र वैदिक ऋषियों ने ही इस की खोज की है।

आकाश का गुण शब्द है। शब्द कान से सुने जाते हैं।
वायु का गुण स्पर्श है। यह त्वचा से सम्बन्ध रखता हैं।
अग्नि का गुण तेज है। यह आखों से देखा जाता है।
जल का गुण रस है। यह जिह्वा से लिया जाता है। और जिह्वा बोलती भी हैं।
पृथिवी का गुण गन्ध है जो नाक से सूंघा जाता है।
दिशा का गुण है किसी वस्तु के निकट और दूरी का ज्ञान कराना है।
समय का गुण भूत, भविष्य, वर्तमान का माप करना है।

मन जड है या चेतन ?

मन जड़ है। जीवात्मा के ज्ञान करने का साधन है। यह एक समय में, एक ही विषय का ज्ञान करा सकता है। जब मन देखता है तो सुनता नहीं, सूँघता है तब स्वाद नहीं लेता। इस की इतनी तीव्र गति होती है जो बताई नहीं जा सकती। मन को वश में रखने पर उन्नति और मन के वश में हो जाने पर अवनति हो जाती है।

सोलह कलाएँ कौन कौन सी हैं ?

१ मन ५ प्राण १० इन्द्रियां। इन्हें धारण करवाने वाला परमात्मा और धारण करने वाला जीवात्मा है। यह १६ कलाओं का एक

---

[१] पाँच ज्ञानेन्द्रिय :—चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, नासिकेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय। पाँच कर्मेन्द्रिय :—वागिन्द्रिय, हस्तेन्द्रिय, पादेन्द्रिय, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय।

विवरण है। शास्त्रों में इसकी गणना निम्न प्रकार से है–प्राण, श्रद्धा, पृथ्वी, अप, तेज, वायु आकाश, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम।

पांच प्राण कौन से हैं ?

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। जो भीतर से बाहर जाता है उसे **प्राण** कहते हैं और जो बाहर से भीतर आता है, उसे **अपान** कहते हैं। जो नाभि से होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता है, उसे **समान** कहते हैं। जिससे कण्ठस्थ अन्नपान किया जाता है और बल पराक्रम होता है उसे **उदान** कहते हैं, और जिससे सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म जीव करता है, उसे **व्यान** कहते हैं।

भूत, भविष्य की अप्रत्यक्ष बातों का किस आधार पर जाना जा सकता है ?

सृष्टि के प्रत्यक्ष दृष्यों के आधार पर। ये प्रत्यक्ष वस्तुएँ न होती तो अप्रत्यक्ष निरवयवों का अस्तित्व जाना ही नहीं जाता। जैसे शरीर न होता तो जीव का और जगत न होता तो परमात्मा का भान नहीं होता।

प्रकृति और जीव का विनाश क्यों नहीं होता ?

नित्य कहलाने वाली सत्ताओं की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त महान् है। जीव और प्रकृति ईश्वर की अपेक्षा से नहीं, पर फिर भी अत्यन्त सूक्ष्म है। मध्यान्तर वस्तु का ही बनना बिगड़ना होता है।

क्या जीव एक शरीर में एक साथ दो नहीं रह सकते ?

शरीर का अधिष्ठाता अभिमानी जीव एक ही रहेगा। हाँ, शरीर के रक्तादि में अनुशायी अनेक अपने-अपने जीव हैं। शरीर के अधिष्ठाता है।

सुख दुःख का सम्बन्ध शरीर से है या आत्मा से ?

जीव में सुख दुःख अनुभव करने का गुण है, पर अनुभव तो मन और इन्द्रियों के द्वारा ही होता है।

उदाहरण देकर समझाइए ।

जैसे किसी के भवन की हानि हो जाने पर भवन के स्वामी के शरीर का कुछ भी नहीं बिगड़ता पर भवन से ममत्व रहने के कारण आत्मिक क्लेश होता है। जहाँ ममत्व है वहीं सुख-दुःख है। परमात्मा का किसी से ममत्व नहीं, इसलिए उसे सुख दुःख नहीं होता ।

प्रायः लोग कहते हैं कि मेरे मन में आया, मेरे मस्तिष्क में आया, मेरी बुद्धि में आया, मेरे हृदय में आया, मेरी आत्मा में आया और मेरे विचार में आया, तो क्या यह विचार सब में आता है ?

विचार तो चेतन जीव ही करता है, पर ये सब साधन हैं। इसलिए ऐसा कहा जाता है। साधन के विना साध्य को जाना नहीं जा सकता। साधन को छोड़े बिना साध्य का मिलना नहीं होता। जैसे सीढ़ी पर चढ़े बिना ऊपर नहीं पहुँच सकते और ऊपर पहुँचने के लिए सीढ़ी को छोड़ना पड़ता है। अर्थात् संसार में जन्म लेकर शुभ कर्म करने पर ही मुक्ति होती है और मुक्ति के लिए संसार को छोड़ना आवश्यक है।

शरीर में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, घृणा, प्रतिस्पर्धा, प्रतिशोध आदि ये बुरे हैं या अच्छे ?

इन से या तो परमात्मा बचा है या प्रकृति, जीव तो बच नहीं सकता। शरीर का सम्बन्ध होने से लोक व्यवहार में ये सब सीमा के भीतर रहने से और जहां इनकी आवश्यकता है, इनका उपयोग करने से लाभकारी और सीमा के बाहर जाने पर विनाश के कारण होते हैं। किसी भी बात की अति होने पर उसकी इति हो जाती है। इसीलिए कहा है इन्द्रियों को बलवान् और साथ ही पवित्र बनाकर रखना चाहिए। अतिमान को आने नहीं देना चाहिए, और स्वाभिमान को जाने नहीं देना चाहिए। अतिमान गर्व उत्पन्न करता है और अवमान हीनता की भावना उत्पन्न करता है।

कहते हैं कि परमात्मा तर्क से परे है, और तर्क को ऋषि और निर्णायक भी कहते हैं ?

तर्क मनुष्य को सतर्क करता है। तर्क सत्य की खोज में सहायक होता है। तर्क ईश्वर के द्वार तक पहुँचाता है। तर्क सन्मार्ग से विचलित नहीं होने देता। पर तर्क ईश्वर से मिला नहीं सकता। जैसे– आपने मिठाई पर मक्खियां बैठी देखी, तर्क ने निर्णय दिया, यह वस्तु मीठी है। आपने तर्क से पूछा, इस का स्वाद कैसा है? तर्क ने कहा– मैं नहीं बता सकता, खा कर देखो। अपनी झूठी बात को निभाने वाले तर्क से भयभीत रहते हैं पर अपनी ओर से दूसरों के आगे तर्क वितर्क करते हैं।

मैं समझ गया कि मन, इन्द्रियां ये सब हमारी सहायक हैं। उदाहरण पूर्वक समझाइए।

इन्द्रियों को घोड़े समझ लीजिए। शरीर को रथ, मन को लगाम, तर्क को चाबुक और आत्मा को रथी। ये सब परमात्मा के द्वार तक पहुँचाते हैं। पर परमात्मा से तो चेतन आत्मा ही मिल सकता है। 'मिल सकता है' से तात्पर्य है, जाना जा सकता है। सजातीय द्रव्य ही एक दूसरे से मिलकर रह सकते हैं। विपरीत गुण रखने वाले अर्थात् विजातीय द्रव्य नहीं रह सकते। यह बात आप जड़ पदार्थों में भी पाएँगे।

विरोध और विरोधाभास में क्या अन्तर है।

जड़ को चेतन कहना, सर्वज्ञ को अल्पज्ञ कहना, सर्व व्यापक को एक देशीय कहना, यह तो हुआ विरोध और ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, अर्थात् विस्तार संकीर्णता की सीमा नहीं। महान् से महान है परमात्मा कर्ता भी है और अकर्ता भी। अपने लिए कुछ नहीं करता, किन्तु जीवों के लिए रचनादि करता है। ये विरोधाभास के उदाहरण हैं। यह परमात्मा अजन्मा भी है और जन्म लेता भी है यह विरोध है।

ईश्वर को दीन दुखियों के प्रति दया आती है या नहीं?

नहीं आती, क्योंकि वह जानता है कि इन्हें किन कर्मों का फल मिल रहा है। दण्ड देना ही दया है। अपराधी को दण्ड न देना उसे उद्दण्ड बना देना है। उसकी दया का एक यह रूप भी देखिए कि मनुष्य चाहे जिस स्थिति में हो वह उसमें रह कर के

उसको जो शरीर मिला है उसी में सन्तुष्ट होकर जीवन के सब व्यवहार करता है। यह जो जीव की जीवन से प्यार की दृष्टि है, यह उसकी दया ही है।

तब तो दीन दुःखियों की सेवा, सहायता हमें नहीं करना चाहिए ?

अवश्य करनी चाहिए परन्तु दुरात्माओं की– दुष्ट, जनों की यही सहायता है कि उन्हें उचित दण्ड दिया जाए।

वेद परमात्मा की वाणी है और परमात्मा स्वयं कहता है हे मनुष्यो ! मेरे आदेशों पर चलो, दुर्गुणों से बचो, मेरी उपासना करो, वह यह भी कहता है मैं ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ, ये बातें समझ में नहीं आतीं।

परमात्मा ने मनुष्य का प्रतिनिधि बन कर प्रार्थना करने का ढंग सिखाया है। वह इसलिए कि मनुष्य विपरीत प्रार्थना न करे, और अपनी महिमा का वर्णन इसलिए किया है कि उसकी कोई विपरीत ढंग से प्रार्थना न करें। परमात्मा का परिचय परमात्मा ही ठीक ठीक दे सकता है। ठीक ठीक परिचय देना घमंड नहीं कहलाता। जैसे एक व्यक्ति अपने नाम के आगे बी. ए., एम. ए., शास्त्री, महामहोपाध्याय विशेषण लगाता है; यह बात घमण्ड नहीं कहलाती, ऐसा लिखना उसके अधिकार की बात है। जैसे गुरु शिष्य को सिखाता है कि गुरु को नमस्कार करो, सेवा करो, यह शिक्षा देना गुरु का इसमें अपना स्वार्थ नहीं है। माता–पिता का बच्चों को बड़ों की सेवा करने का धर्म बताना अपने लिए नहीं, बच्चों के गुणों के विकास के लिए है।

परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, भक्ति और उपासना कैसे करनी चाहिए ?

परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव को यथावत् जानना चाहिए। और भाव विभोर होकर मन से और वाणी से उसका बर्णन शुद्ध मन से करना स्तुति कहलाती है। उत्तम कामों की पूर्ति पुरुषार्थ के साथ करते हुए और प्रेरणा प्राप्त करने के लिए परमात्मा से निरभिमानता के साथ विनय करने को प्रार्थना कहते हैं। विषय

वासनाओं, हिंसा आदि दुर्गुणों से दूर रहकर परमात्मा के बताए हुए आदेशों का पालन करते हुए, जीव मात्र के कल्याण को सामने रखते हुए, सत् पुरुषों की संगति में रहना ही भक्ति है। यथाशक्ति परमात्मा के गुणों को धारण करना उपासना कहलाती है।

ईश्वर के नाम का जाप करना चाहिए या नहीं ?

समय मिलने पर जितना भी हो सके ईश्वर के मुख्य नाम **ओ३म्** का तथा गायत्री आदि मन्त्रों का जाप अवश्य करें। पर ध्यान रहे जाप के साथ पाप नहीं करना चाहिए। और नाम में निहित गुणों को जीवन में धारना चाहिए। शरणागत और आत्म समर्पण का अर्थ यह होता है कि जैसे एक सैनिक सेनापति के आदेश का पालन करता है वैसे ही भक्त को परमात्मा के आदेशों का पालन करना चाहिए। 'शरणमम' कह के जगत भर के पाप करते रहना और अपने को भक्त समझ लेना या तो मूर्खता है अथवा धूर्तता।

ध्यान किसे कहते हैं ?

किसी को लक्ष्य बिन्दु बनाकर साथ ही विषयों से हट कर मन को एकाग्र करना ध्यान कहाता है। एकाग्र मन से सब विषयों से रहित परमात्मा का चिन्तन करना ध्यान है।

मन का एकाग्र होना तो अत्यन्त कठिन है !

हाँ, पर मन को उत्तम कामों में और उत्तम विचारों में लगाए रख कर बुरे विचार और कुसंगति में न जा कर अपने को बचाए रखना यह तो सरल है। ऐसा अभ्यास कर लिया जाए तो भी बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। आंखें बन्द कर विषयों का चिन्तन और दुर्व्यसनों का त्याग किए विना ध्यान करना तो बगुले का अनुकरण करना है।

अच्छा यह बताइए तप किसे कहते हैं ?

यम, नियमादि का पालन करना तथा पुत्रैष्णा, वित्तैष्णा, लोकैष्णा का त्याग और काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईष्या, द्वेष आदि पर विजय पाने में जो धर्म पूर्वक कष्ट सहन किया जाता है, उसका नाम तप है। इस तप में मन को शान्त रखना होता है।

कोई ज्ञान से मुक्ति मानता है, कोई कर्म से मानता है तो कोई भक्ति से मानता है, आप का क्या विचार है ?

ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और यह शुभाशुभ कर्म का निर्णय कराता है। भक्ति अन्धी होती है। ज्ञान शून्य भक्ति से लाभ नहीं होता। इसका सम्बन्ध हृदय से है। कर्म चल है, यह भी ज्ञान शून्य है। दुष्कर्मों की ओर ले जा सकता है। इसलिए इन तीनों से पृथक-पृथक रूप से मुक्ति की भावना को पृथक रखना ठीक नहीं। इनका समन्वय होना चाहिए। साथ ही उपासना का होना अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरीय गुणों को धारण किये बिना मनुष्य को मुक्ति अथवा शान्ति नहीं मिल सकती। आत्मिक, मानसिक, शारीरिक और सामाजिक प्रत्यक प्रकार की उन्नति को लक्ष्य में रख कर कर्म करना चाहिए। आध्यात्मिक*, आधिदैविक*, आधिभौतिक× तीनों प्रकार के ज्ञान के बिना मानव आत्मज्ञान में अपूर्ण रह जाएगा। एक वस्तु पर से अपने अधिकार को विवेक पूर्वक छोड़ कर और उचित प्रकार संग्रह की हुई वस्तु का ही उपयोग करना त्याग कहलाता।

जो लोग भजन गाते हुए घुंघरु बांधकर नाचते हैं, क्या यह ठीक है ?

दुर्व्यसन, दुराचरण, हिंसा आदि दुर्गुणों से दूर रह कर ईश्वर के स्वरूप को जानकर भक्ति के भाव को पहचान कर वास्तविक मस्ती में आकर नाचते हैं तो ठीक है, अन्यथा ढोंग है। परन्तु परमेश्वर की प्राप्ति का यह साधन नहीं है। प्राप्ति तो विषयों से मन को हटाने से ही होती है। ढोंगियों का नाचना तो ऐसे ही है जैसे लंगर डाली हुई नाव को अन्धेरे में भांग के नशे में चप्पू चलाकर पार

---

* अर्थात् पुरुष और परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान।

* सूर्य चन्द्रादि का ज्ञान।

× भूकम्पादि तथा अन्य प्राणियों सम्बन्धी ज्ञान।

उतर जाने की सोचना। यह तो अपने को धोखे में रखना है। भगवान को भी मूर्ख समझना है।

भगवान् भक्त के वश में हैं, क्या यह बात सच है ?

यह बात उन भक्तों की है जो भगवान् को मूर्ख बना कर अपना काम निकालना चाहते हैं। विचार कजिए. भगवान् भक्त के वश में होने पर भक्त का भला है या भगवान् के वश में होने पर भक्त का भला है ? ईश्वर की आज्ञा पर भक्त के चलने में भला है या भक्त की आज्ञा पर भगवान् के चलने में भला है ? आपने सुना होगा कुछ भक्त प्रार्थना करते हैं कि बजरंगवली ! तोड़ दे, दुश्मन की नली! ! और उसका विरोधी भी कहता है "बजरंगवली तोड़ दे दुश्मन की नली ! यदि सचमुच बज्रांगबली ने नलियां तोड़ दी" तो भक्तों की क्या दशा हागी ? और हनुमान जी क्या बन जाएँगे ? नलियाँ तोड़ने वाले कसाई !

क्या परमात्मा प्रार्थना नहीं सुनता और उसकी पूर्ति नहीं करता ?

वह अपने नियमों में सर्वेसर्वा बनकर रहता है। वह इतना तुच्छ नहीं है. जो आपके प्रसाद चढ़ाने पर, प्रार्थना करने पर आपके दबाव में आकर आपकी माँगे पूरी कर दे। एक कामी कहता है मेरी वासना पूरी कर दो। एक धनी कहता है चोर बाज़ारी में लाभ करवा दो। एक कसाई कहता है मेरा व्यापार अच्छा चले। एक डाकू कहता है मैं डाका डालने में सफल हो जाऊँ।

परमात्मा ऐसा तो नहीं करेगा, पर ऐसों को सफल होते तो देखा है।

उनका सफल होना परमात्मा की ऐसी प्रार्थना के कारण नहीं है परन्तु पूर्व जन्म कृत पुण्य और वर्तमान के पुरुषार्थ के कारण है। कर्म करने की स्वतन्त्रता होने के कारण सफल होने के पश्चात् ईश्वरीय नियमानुसार उन्हें भविष्य में दण्ड रूप फल अवश्य मिलेगा।

फिर प्रश्न होता है प्रार्थना क्यों करनी चाहिए ?

प्रार्थना के तात्पर्य को समझे बिना प्रार्थना करना व्यर्थ है। प्रार्थना करने के पश्चात् यदि मनुष्य सद्गुणी न बने तो भी प्रार्थना करना व्यर्थ है। मनुष्य अपने को वड़ा बुद्धिमान समझता है। उसने सोचा-उपासना कहते है निकट बैठने को। में तो परमात्मा के निकट बैठ नहीं सकता। क्यों न परमात्मा को मैं अपने निकट बैठा लूं? अतः स्वयं तो उस जैसा नहीं बना, पर उसे अपना रूप, गुण, कर्म, स्वभाव दे दिया।

भाव के भूखे हैं भगवान ऐसा लोग कहते हैं, क्या यह ठीक है?

पानी में से घी निकाला नहीं जा सकता। यदि हम समझ लें पानी में घी है यह भाव शुद्ध नहीं है और भाव का दुरुपयोग है। घी का भाव दूध में रखना चाहिए। अर्थात् भावना में सत्य होना चाहिए। यदि कोई किसी के सामने गोबर रखकर यह कहे कि हलवा समझ कर इसे खा लीजिए तो क्या यह भावना अच्छी होगी। इसे तो आप बुरा कहेंगे।

एक सैनिक मुट्ठी में धूल भर कर सिर पर डालता है और कहता है "हे मातृभूमि! मैं तेरी रक्षा नहीं कर सका, मुझे क्षमा करना" यों कहकर वह प्राणों को त्याग देता है। इससे क्या समझें?

इतना भाव विभोर होने की पराकाष्ठा पर यदि एक व्यक्ति इस प्रकार अपनी बलि दे देता है, यह सराहनीय तो है पर साधारण व्यवहार में यदि कोई सिर पर धूल डाल कर घूमता रहे तो उसकी मूर्खता ही होगी। यह बात अपवाद के रूप में तो ठीक हो सकती है पर इसे सिद्धान्त बना लेना ठीक नहीं है।

भरत ने राम की पादुका को सिंहासन पर रखा, क्या यह ठीक था?

इतनी भावुकता, त्याग और तप के साथ ऐस करना अपवाद रूप में प्रशंसनीय है पर इसकी परम्परा नहीं बननी चाहिए। कभी-कभी विपरीत बात का परिणाम भी उत्तम निकल जाता है। साथ ही लोग दुरुपयोग भी बहुत करते हैं।

अब तक के हुए वाद-विवाद में मुझे बड़ी जानकारी मिली, और भी कुछ विस्तार पूर्वक जानना चाहता हूँ।

किसी भी बात का निर्णय करने के लिए हर प्रकार से विचार करना चाहिए। किसी का पूरा चित्र लेना हो तो ऊपर-नीचे आजू-बाजू, आगे पीछे छः प्रकार से लेना होगा। इसीलिए शास्त्र-कारों ने छः शास्त्र बनाये। संध्या में अपनी रक्षा के लिए छः ओर से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। असत्य को नहीं मानना चाहिए पर असत्य को वाद का विषय बना कर विचार करने में बुरा नहीं है।

ईश्वर ने अपनी महिमा बताने के लिए जीव और जगत् की रचना की, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?

यहाँ यह प्रश्न होगा कि देखने वाला कौन था? जब आप यह मानेंगे कि प्रकृति और जीव के अभाव में जगत् और जीवों को उत्पन्न किया यह बात युक्ति युक्त और विज्ञान संगत नहीं है और परमात्मा लोकेषणा में घिरा हुआ है, सिद्ध होगा।

दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना के लिए परमात्मा अवतार लेता है, मानने में क्या दोष है? और आपको क्या आपत्ति है?

बिना अवतार लिए वह अखिलकोटि ब्रह्माण्डों की रचना पालना, और प्रलय करता है, और बिना अवतार लिए आज भी जो कुछ करना है, कर रहा है। अवतार लिए बिना दुष्टों का नाश नहीं कर सकता, यह तो उसकी दुर्बलता हुई। और अल्प शक्ति मत्ता हुई। भारत को छोड़ कर अन्य देशों में और हिन्दु जाति को छोड़ कर इतर जातियों में परमात्मा का अवतार नहीं होता है। यह अवतारवाद सार्वभौमिक सर्वमान्य नहीं हो सकता। आज लोग जिन्हें अवतार मानते हैं, उन अवतारधारियों के जीवन में कठिनाइयां और विवषताएँ इतनी आईं कि उनसे वे उद्विग्न हो बैठे और विरोधियों के साथ उन्हें छल कपट करना पड़ा। एक अवतार ने दूसरे अवतार के साथ मत-भेद ही नहीं वरन् युद्ध भी किये – कुश्तियाँ भी की।

महापुरुष मान कर चलने पर तो राम कृष्णादि की जितनी प्रशंसा की जाए थोडी है पर सर्वेश्वर मान कर चलने पर तो उनके कार्यों की प्रशंसा करना सर्वशक्तिमत्ता का अपमान करना है।

सर्व शक्तिमान होने के कारण सब कुछ करने में भी उसकी शक्ति कुछ भी नहीं लगती। वह संकल्प मात्र से रचना पालना कर देता है। (संकल्प शब्द का प्रयोग भी समझने समझाने के लिए करना पड़ता है) एक विश्वविजयी योद्धा एक सप्ताह युद्ध कर के खटमल को मारता है तब प्रशंसा खटमल की जानी चाहिए या उस योद्धा की ?

मैं तो समझ गया पर अपनी जानकारी बढाने के लिए पूछता हूँ कि क्या आप गीता को नहीं मानते ?

गीता ही नहीं कोई भी ग्रन्थ हो, ऊपर बताई कसौटियों पर ठीक उतरने वाली बातों को ही मानते हैं। विपरीत बातों को क्षेपक मानते हैं।

धर्म स्थापनार्थ युग युग में आता हूँ, इसका क्या अर्थ होगा ?

श्रीकृष्ण कहते हैं कि धर्म स्थापनार्थ मैं आता हूं। इसका भावार्थ यह है कि मुझ जैसे व्यक्ति समय समय पर आते हैं। गीता में स्वयं कृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन मेरे और तेरे अनेक जन्म हुए हैं। तू नहीं जानता, मैं जानता हूँ। और कहा है कि वह ईश्वर सब भूतों के हृदयों में निवास करता है उसकी शरण जा। और कहा है यादवों में कृष्ण मैं हूँ। गीता का नाम भी भगवद्गीता है, कृष्णगीता नहीं। इस से कृष्ण ईश्वर सिद्ध नहीं होते। श्लोकों का अर्थ करते समय ईश्वर परक अर्थ ईश्वर पर घटाना चाहिए। अर्थ करते समय ईश्वर के गुण स्वभाव का खण्डन न करते हुए अर्थ करना चाहिए।

गीता में विराट् स्वरूप का जो दर्शन कराया है, वह क्या है ?

वह दर्शन चर्मचक्षुओं से नहीं, दिव्य दृष्टि से कराया है अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक ऋषियों के ज्ञान विज्ञान पूर्वक आलंकारिक दृष्टिकोणों से समझाया है। जैसे वेद में सहस्रशीर्षा

पुरुषः' का वर्णन है। लोगों ने इसे रक्त, मांस और चर्म का शरीर समझ लिया है।

इस प्रकार आलंकारिक रहस्यमय बातें लिखकर क्यों लोगों को भुलावे में रखा जाता है ?

न्यायशास्त्र आपकी भांति कहता है पर काव्यशास्त्र कहता है कि किसी भी बात को अलंकृत करके कहना चाहिए। विद्वानों का काम है कि रहस्य को समझ कर उसका अर्थ करे। यह ढग सदा से चला आया है। आज भी कहा जाता है, भारत ने यों कहा—अमेरिका ने यों कहा, रूस ने यों कहा—इस का भाव यह है कि वहाँ के ससद का निर्णय यह है। यदि कोई इन्हें चेतन समझ कर चले तो नासमझी होगी। अर्थ का अनर्थ या तो मूर्खतावश किया जाता है या धूर्तता के कारण। वेद में आता है ब्रह्मा ने अपनी पुत्री से सन्तानोत्पत्ति की। लोगों ने ब्रह्मा और पुत्री को शरीरधारी समझ लिया। वास्तव में यह आलकारिक रूप है।

ब्रह्मा कहते हैं सूर्य को। सूर्य से उत्पन्न होने वाली है ऊषा। ब्रह्मा और ऊषा से उत्पन्न हुआ दिन। यहाँ चरित्र दोष का प्रश्न नहीं आता। सूर्य की सातों किरणों को सात अश्व और उन अश्वों के रथ पर सूर्य को दर्शाया है। लोगों ने सूर्य और घोड़ों को जीवधारी समझ लिया। शेष कहते हैं आकाश को। आकाश में विष्णु (परमात्मा) शयन कर रहा है। नाभि में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा सूर्य को कहते हैं। सूर्य चारों ओर देखता है। अतः उसके चार मुँह बताए। सूर्य के चारों ओर आभा है उसे कमल समझना चाहिए। परमात्मा का विराट् स्वरूप यह विश्व है। सूर्य चन्द्र उसकी आँखें हैं, दिशाएँ उसके हाथ हैं, नीचे का भाग पैर व ऊपर का भाग सिर है। वनस्पतियां उसकी रोमावली है और बादल उसकी जटा है तथा उन जटाओं में चन्द्रमा है, उन जटाओं में गंगा रहती है अर्थात् जल रहता है। अतः वर्षा होती है। ऐसे अनेकों अलंकार वेदों में मिलेंगे जिन्हें लोगों ने ऐतिहासिक पुरुषों की संज्ञा दे दी। वेद में लिखा है इन्द्र के बदल जाने पर भी इन्द्राणी वही रहती है। इस का तात्पर्य यह है कि शासक के बदलने पर भी ससद वही रहता

है। लोगों ने इन्हें भी जीवधारी समझ लिया है। बुरे विचारों को असुर और उत्तम विचार वालों को सुर कहा गया है। इन विचारों का संघर्ष शरीर में चलता है। अन्धकार को असुर और प्रकाश को सुर कहा है। इनका संग्राम भी निरन्तर चलता रहता है। इन पहेलियों को यथावत् समझना चाहिए। इन अलंकारों को कई विद्वान् तो समझते ही नहीं और जो समझते हैं वे जनता को इस लिए नहीं समझाते क्योंकि उन्हें उनसे आर्थिक लाभ उठाना है और कई लोग ऐसे भी हैं जो सत्य सुनकर पंडितों को आर्यसमाजी बन गये, कह देते हैं।

कुछ पहेलियों को और भी समझाइए।

आप यह बताइए पहले पुत्र उत्पन्न होता है या पिता ?

पहले तो पिता ही उत्पन्न होता है।

इस पहेली को जब तक कोई नहीं समझेगा यही कहेगा। पर समझ लेने पर कहना होगा कि दोनों साथ साथ अर्थात् पुत्र के उत्पन्न होने पर ही पिता नाम रखा जाता है। अर्थात् वेद आत्मा, परमात्मा और सृष्टि इन तीन के ज्ञान का प्रकाश करता है। वेद मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं। वेद में किसी देश, मनुष्य, जाति, काल विशेष का इतिहास नहीं है। वेद त्रैकालिक सत्य ज्ञान है, पर लोगों ने ऐतिहासिक घटनाएँ समझ कर अर्थ किया, इस से अनर्थ हो गया। विचारणीय बात है आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त मध्यवर्तीय श्रेणी की कोई चेतन सत्ताएं भी हैं क्या ? जो भिन्न प्रकार के गुण कर्म स्वभाव रखने वाली हों, जिन्हें देवता कहा जा सकता हो और मनमाने इच्छित रूप बना सकते हों।

पुराणों में ऐसा वर्णन आता है, पर वर्तमान में कोई जीवित प्रमाण नहीं मिलता। केवल मिथ्या विश्वास और अनार्ष पुस्तकों के आधार पर मानते हैं।

देवत्व को प्राप्त करने वाली आत्माओं को ही देवता कहा जाता है। माता, पिता, गुरु, विद्वान आदिकों को और सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि जो कि देवता कहलाते हैं। देवताओं के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है

कि देवता धरती पर नहीं चलते, उनकी आंखें पूरी नहीं खुलतीं, उनकी छाया नहीं पड़ती, उनकी पत्नियां तो हैं किन्तु उन्हें सन्तान नहीं होतीं, वे रोगी नहीं होतीं और वृद्ध नहीं होते, मरते नहीं—वे अमर होते हैं। सतयुग, द्वापर, त्रेता युग में आया जाया करते थे पर कलियुग होने से अब धरती पर आना बन्द कर दिया। यह बात अपनी ओर से जोड़ दी।

ये बात नक्षत्र जगत में घट सकती हैं। नक्षत्र अधर चलते हैं। टिमटिमाते रहते हैं। उनकी छाया नहीं पड़ती। एक नक्षत्र के अधीनस्त दूसरे नक्षत्र रहते हैं। आधीन रखने वाला पति आधीन रहने वाले पत्नी नक्षत्र कभी खण्डित नहीं होते और समय से पहले नष्ट नहीं होते, उनकी सन्तानें नहीं होतीं। देवता ३३ माने गये हैं जिन की गणना इस प्रकार से है: ८ वसु अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र। ११ रुद्र जिन में पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान उदान और समान। पांच उप प्राण अर्थात् नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय तथा एक जीवात्मा। १२ आदित्य अर्थात् संवत्सर के महीने। एक इन्द्र अर्थात् सूक्ष्म विद्युत और एक प्रजापति अर्थात् यज्ञ, जिससे सब प्रजा का पालन होता है।

कहते हैं कि आपस में एक दूसरे को शाप देने के कारण सन्तानें नहीं होती और धरती की महिलाओं से देवताओं द्वारा और धरती के पुरुषों से देवियों में सन्तानें हुई हैं, ऐसा क्यों ?

ये सभी बातें अज्ञानियों की हैं। शास्त्रानुसार देव शब्द का एक अर्थ उच्च स्थिति को प्राप्त हुए सत्याचारी विद्वान मनुष्य को कहते हैं। क्योंकि ये मनुष्य हैं इसीलिए पारस्परिक सम्बन्ध होने से सन्तानें हुई हैं। वस्तुत: देव शब्द का अर्थ गलत समझ कर लोग भ्रम में पड़े हैं।

इस देवतावाद को लेकर बड़े बड़े विद्वान्, वकील, बैरिस्टर बाल की खाल निकालते हैं, पर इस विषय पर विचार नहीं करते और सत्य मानते हैं, आश्चर्य की बात है !

कई लोग वास्तव में सत्य समझकर चलते हैं। और कई लोग

उदासीन होकर जैसा चलता है चलने दो, कह कर अनजान हो जाते हैं। अन्यथा कइयों की आमदनी रुक जाती है। इन सारे कारणों से वास्तविकता की ओर ध्यान नहीं देते। इसीलिए विज्ञान जिस बात को सच कहता है मतावलम्बी उसे झूठ समझते हैं। पर हमारे विचार विज्ञान, तर्क संगत और युक्ति युक्त हैं।

एक नास्तिक ने मुझे झेंपाने के लिए कहा तुम्हारा परमात्मा सब में व्यापक है, तो क्या मल मूत्रादि गन्दगी में भी व्यापक है ?

यह सत्य है कि परमात्मा जैसे पुष्प में व्यापक है वैसे दुर्गंध युक्त मल में भी व्याप्त है। सर्व व्यापक होने से जैसे आत्मा को पुष्प की सुगन्धि नहीं आती वैसे ही मल की दुर्गन्ध नहीं आती क्योंकि वह निर्लिप्त है। दूसरे, जो पदार्थ जिसके गर्भ में होता है उसकी गन्ध उसे नहीं आती। गर्भ से वाहर आने पर ही गन्ध का प्रभाव होता है परन्तु परमात्मा के सर्वत्र होने से उस के बाहर मलमूत्रादि नहीं जा सकते इसीलिए गन्ध का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता।

अब मैं आपसे प्रतिमा पूजन सम्बन्धी जानकारी चाहता हूँ। इस प्रतिमा पूजन से क्या हानि और क्या लाभ है ?

संसार में जितने कार्य हैं, उनसे न्यूनाधिक हानि-लाभ होते हैं। पर विशेष हानिकर कार्यों को ही हानिकर कहा जाता है। मूर्तिपूजा से पुजारियों को, पण्डों को, रेलों को, कुलियों को, और भी कइयों को लाभ होता है। पर यह ईश्वर के सच्चे स्वरूप से दूर हटाती हैं। प्रतिमा - पूजकों ने देवी के नाम पर भैरव के नाम पर इतने पशुओं को काटा है कि जिसका अन्त नहीं, और इतना ही नहीं नरबली के नाम से मनुष्यों की हत्याएँ की गयी। यह भी प्रतिमा पूजन का दोष है। देवताओं के नाम पर शराव, भांग, गांजा पिया जाता है। साथ ही विचारणीय बात है कि क्या राष्ट्रपति को चपरासी और चपरासी को राष्ट्रपति, दासी को रानी, रानी को दासी कहना उचित है ?

यह तो विपरीत बात है, अन्याय है।

फिर सर्वशक्तिमान् सर्वगुण सम्पन्न, सृष्टि का रचयिता सर्वज्ञ परमात्मा जिस में परिवर्तन नहीं होता, उसकी प्रतिमा बनाना, अल्पज्ञ मनुष्य को उसका स्थान देना, अन्याय नहीं है क्या !

लोग कहते हैं हम मूर्ति में ईश्वर मानते हैं। मूर्ति को ईश्वर नहीं । अर्थात् मूर्तिपूजा साधन है साध्य नहीं ।

वास्तव में प्रतिमा पूजन ईश्वर आराधन का किसी भी प्रकार से साधन नहीं । यह साधन की बात विपक्षियों का मुख बन्द करने के लिए कही जाती है । प्रतिमा को वे साध्य समझते हैं, प्राण प्रतिष्ठा करते हैं, भोग लगाते हैं, शयन करवाते हैं, जगाते हैं । अपने प्रांतानुकूल वेश भूषा बनाते हैं । शराबी और मांसाहारी लोग शराब और मांस का सेवन कराते हैं, और मूर्तियों के समाने देव-दासियों के नृत्य कराते हैं ।

एक सज्जन ने कहा कि कहीं कहीं प्रतिमाएँ खाती भी हैं, और अपने भक्तों से बातचीत भी की है, आदि पुस्तकों में लिखा है ।

उनसे यह भी पूछिए कि क्या वे शौच लघुशंका भी करती हैं । और क्या वे अन्य प्रकार की मानवीय क्रियाएँ भी करती हैं । क्या आज भी कहीं खाते हुए, बातचीत करते हुए सुनने में आया है ?

जी हाँ, कई लोगों का कहना है कि पत्थर की प्रतिमाएँ बात-चीत करती हैं, क्रोध में आती और प्रसन्न भी होती हैं, लोगों ने स्वयं देखा है ?

यदि इसी प्रकार की बात मैं भी बनाकर कह दूं तो क्या वे लोग मानेंगे ? या मुझे झूठा समझेंगे ?

बात तो आपकी ठीक है, पर वे पूछने पर उत्तर न देकर लडने तैयार हो जाते हैं, और पूछने वाले को नास्तिक आदि शब्दों से अपमानित करते हैं ।

एक ब्रह्मकुमारी मत के माननें वाले ने कहा हमारे गुरुजी के हृदय में शिवजी प्रकट होते थे । उनके मुख से यह कहलवाया कि निकट

में ही महाप्रलय होने वाला है। तब मैंने कहा कि आप सत्य कहते हैं। मेरे पिताजी के मस्तिष्क में भी विष्णु भगवान् आया करते थे। और कहा करते थे बेटा! न महाप्रलय हुआ है, न होगा, यह धरती न बनी है न मिटेगा, तुम मेरे नाम का जप करो। सीधे मुक्ति को प्राप्त हो जाओगे। तब मतावलम्बी ने कहा कि यह कैसे हो सकता है? तो मैंने कहा जब आपके गुरुजी के हृदय में शिव आकर कह सकते हैं, तब मेरे पिताजी के मस्तिष्क में विष्णुजी क्यों नहीं आकर कह सकते। यदि आपकी बात सत्य है तो मेरी यह बात सत्य क्यों नहीं।

मत्स्य, कच्छप, वराह आदि चौबीस अवतारों में बुद्ध को भी पौराणिकों ने अवतार माना है? और साथ ही बुद्ध को नास्तिक कहा है। बुद्ध तो अभी अभी हुए हैं और पुराण व्यास जी ने रचे हैं, बात समझ में नहीं आती?

इन मतावलंबियों की लीला विचित्र है। ये जो कह दें वह सत्य, भले ही वह झूठ हो। विरोधी कहे वह झूठ, भले ही वह सत्य हो। सत्य पीर नाम का एक यवन बंगाल में अपने आप को पुजवाना आरम्भ किया। हिंदू ऐसा मूर्ख होता है कि किसी भी बात पर विश्वास कर लेता है। वह पीर इन के द्वारा पुजवा जाने लगा। बुद्धिमान् पौराणिकों ने उसके स्थान पर वर्तमान में होने वाली सत्यनारायण की पूजा को आरंभ किया। इस कथा का उल्लेख न स्कंध पुराण में है और न रेवाखण्ड में। एसे ही आज के ये सभी सैकड़ों कल्पित अपने को भगवान् कहने वाले व्यक्ति, भगवान् के स्थान पर पूजे जाएँ तो क्या आश्चर्य? आज यह सन्तोषी माता भी अपना चमत्कार बता रही है। सिनेमा के द्वारा इसका ऐसा प्रचार हो गया कि पौराणिक लोग भी आश्चय चकित हैं। खण्डन इसलिए नहीं कर सकत कि इसका खण्डन करने से अपना इनका खण्डन भी हो जाता है। इसलिए अन्दर ही अन्दर क्षुब्ध हैं।

मैंने एक पण्डित जी से प्रश्न किया कि राम ईश्वर थे, सीता को चुराने रावण आया, उठाकर ले गया, जिसको ढुंढवाने के लिए हनुमान को भेजा, तो क्या सर्व व्यापक ईश्वर के अवतार

सर्वव्यापक होते हुए, इन घटनाओं को नहीं जान सके ? तब उन्होंने कहा–जानते तो थे, पर मानव लीला दिखलाने के लिए ऐसा किया।

यह लीला शब्द भी जोकर अर्थात् विदूषक का काम करता है। इसे जहां चाहे जोड़ दो, और जो चाहे सिद्ध कर दो। मैंने भी ऐसा ही किया, और अपने को साक्षात् ईश्वर का अवतार हूँ, कहा। उन्होंने पूछा आप ईश्वर है तो चिन्तित क्यों रहते हैं, दुर्बल क्यों हैं, निर्धन क्यों हैं ? जब मैंने कहा––चिंतित, निर्बल, दुर्बल और निर्धन इसलिए दीख रहा हूँ क्योंकि मुझे मानवलीला दिखलानी है। तब वे चुप हो गए।

यही कारण है कि आज भगवान् कहलाने वालों की बाढ आई हुई है, पर कोई पौराणिक पण्डित उनका विरोध नहीं कर सकते। क्योंकि जो तर्क वे पूर्व के अवतारों को ईश्वर सिद्ध करने में देंगे, वही तर्क इन अवतारों के समर्थक भी देंगे।

आपने ठीक समझा। जिस बात के पीछे जनबल होता है, जिस बात से अर्थोपार्जन होने लगता है, वह बात असत्य होने पर भी सत्य का रूप धारण कर लेती है।

अब मैं आपके सम्मुख स्वामी शंकराचार्य के 'अहं ब्रह्मास्मि, ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या के विषय में वाद करना चाहता हूँ।

आप उनके पक्ष को लेकर प्रश्न कीजिए। और सर्व प्रथम आप सत्य और मिथ्या की ठीक ठीक परिभाषा करके बताइए।

सत्य उसको कहते हैं, जिसका नित्य अस्तित्व हो। अर्थात् जो एक जैसी सत्ता में हो। मिथ्या कहते हैं जिसका अस्तित्व न हो, जिसकी सत्ता न हो, जिसका अभाव हो।

आपका भाव तो मैं समझ गया। ध्यान रहे जिसका अभाव हो उस का नाम नहीं रखा जाता। नाम रूप के बिना वस्तु की प्रतीति नहीं होती और वस्तु के बिना नाम रूप नहीं होता। जो नहीं है,

वह है में और जो है वह नहीं में बदल नहीं सकता अर्थात् जो है वह था, रहेगा और जो नहीं है, वह न था, न रहेगा। और भी स्पष्ट समझिए। नहीं का अर्थ यह है कि यहाँ नहीं पर कहीं है। आया का अर्थ है वहाँ था, वह आया और गया का अर्थ है यहां था, वहाँ गया। असत्य का अर्थ है, यह राम नहीं है, श्याम है। मिथ्या का अस्तित्व भी रहता है। मिथ्या का अर्थ अस्थिर और सापेक्ष किया जाए तो आपत्ति नहीं। कृपया आप ब्रह्म की सिद्धि में कोई प्रमाण दीजिए।

संसार की रचना, रचयिता का प्रमाण है।

जिस संसार को और रचना को आप मिथ्या कहते हैं उसी मिथ्या का प्रमाण देते हैं! यह तो उचित नहीं। उदाहरण दिया जाता है उसका, जिसको कि दोनों पक्ष सत्य मानते हैं। जिसका उदाहरण दिया जाता है, वह तो प्रबल सत्य है। एक बार ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया जा सकता है पर जगत् की सत्ता तो स्वयं सिद्ध है। एक बार आत्मा की सत्ता को न भा गाना जा सकता है पर शरीर की सत्ता प्रत्यक्ष है। इसलिए जिसे आप मिथ्या कहते हैं, कृपया उसका उदाहरण न दें।

यह जगत् व्यवहार में सत्य और परमार्थ में मिथ्या है।

वाह वाह! आपने भी व्यवहार में सत्य वाला मज़ाकिया शब्द अच्छा चुन लिया।

रस्सी को देखकर सांप का भ्रम होता है, ऐसे ही सृष्टि का भ्रम होता है।

भ्रम भी किसी वास्तविक सत्ता का ही होता है। अर्थात् सृष्टि का भ्रम किसी वास्तविक सृष्टि के द्वारा ही होना चाहिए। सृष्टि का किस को देखकर भ्रम हो रहा है? जिससे भ्रम हो गया वह भी असत्य और जिसका भ्रम हो गया वह भी असत्य, यह बात तो समझ में नहीं आती।

जैसे अस्तित्व के न रहने पर भी स्वप्न में वस्तु दिखाई देती है, वैसे ही जगत् दिखाई देता है।

स्वप्न में दिखने वाली वस्तुएँ वास्तविक नहीं, यह तो ठीक है, पर वास्तविक वस्तुओं के बिना स्वप्न में दिखने वाली वस्तुएँ क्या देखी जा सकती हैं। और यह बताइए, स्वप्न स्वप्न है, यह अपने आप में क्या यह सत्य नहीं है ? ध्यान में रखिए वास्तविक वस्तु के बिना वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए अन्धे का स्वप्न नहीं आता। और बहरा वोल नहीं सकता, क्योंकि वह कुछ सुनता नहीं। इसलिए यवनों को स्वप्न मे मूर्ति नजर नहीं आतीं, ताजिये कबरें आतीं है।

'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' यह तो वेद वाक्य है ?

प्रथम तो यह वेद वाक्य नहीं है और उसका भाव यह है कि ब्रह्म जैसा कोई दूसरा ब्रह्म नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म से भिन्न जीव और प्रकृति भी नहीं। भारत का राष्ट्रपति एक ही है, इस का अर्थ यह नहीं होता कि उपराष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री और जनता भी नहीं। ब्रह्म का अर्थ वड़ा, ज्ञानी, महान् होता है। छोटे के रहने पर वड़ा और अज्ञानी के रहने पर ज्ञानी और तुच्छ के रहने पर महान् कहला सकता है। ईश्वर सर्वज्ञ है तब अल्पज्ञ का होना आवश्यक है। ईश्वर व्यापक है तो जिस में व्याप्य है, वह भी होना चाहिए। ईश्वर चैतन्य है तव कोई अन्य वस्तु भी होगी ही। स्वामी का होना सेवक को सिद्ध करता है पति तभी कहलाएगा जब उसकी पत्नी होगी।

जादूगर कृत्रिम रस्सी पर चढता है। वह रस्सी वास्तविक नहीं। वह चढता नहीं है, पर सब को दीखता है, ऐसे ही जगत् दीख रहा है।

अच्छा यह बताइए, वह जादूगर कृत्रिम है या वास्तविक ? वह रस्सी वास्तविक नहीं है और चढ़ना भी वास्तविक नहीं है। पर वास्तविक रस्सा और चढ़ना वास्तविक तथा चढ़ने वाला तो वास्तविक होना ही चाहिए।

एक बार बिगडा हाथी भागा जा रहा था, स्वामी शंकर बचने के लिए भागने लगे। एक पण्डित ने कहा– स्वामी जी ! जगत्

मिथ्या, हाथी मिथ्या और आप भी मिथ्या, फिर भाग क्यों रहे हो ? तब स्वामी जी ने कहा कि मेरा भागना भी मिथ्या है।

तब तो हम भी कह सकते हैं कि स्वामी शंकराचार्य भी मिथ्या, उनका वचन भी मिथ्या और उनका सिद्धांत भी मिथ्या। ऐसा कहने पर क्या वेदांती बुरा नहीं मानेंगे ? और यदि बुरा माने तो अपने सिद्धांत का खंडन नहीं कर लेंगे ?

जैसे समुद्र की तरंगें उठती हैं उसी प्रकार ब्रह्म में तरंगे उठती हैं, वह जीव रूप में दिखाई देती हैं।

तरंगें खाली स्थान के रहने पर उठा करती हैं। परिपूर्ण ब्रह्म में तरंगें उठना, प्रत्यक्ष युक्ति विरुद्ध है।

भिन्न भिन्न मिट्टी के घडों में पानी भरा रहता है। उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब गिरता है और एक ही सूर्य उन घडों में भिन्न भिन्न दिखता है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म अन्तःकरणों के भेद से जीवों के रूप में दिखता है।

दो पदार्थ एकदेशी रहने पर, एक दूसरे का एक दूसरे में प्रतिबिंब पड़ सकता है, पर ब्रह्म का प्रतिबिंब ब्रह्म में पड़े, यह नहीं हो सकता क्योंकि एक ही तत्व है। माया गुण है या द्रव्य है, जड़ है या चेतन है, यह भी समझने की बात है।

जैसे मकडी अपने आप जाला बनाती है, इसी प्रकार ब्रह्म ने भी अपने आप में से जगत् को बना दिया।

अन्यों से अपने बचाव के लिए मकड़ी ने अपने भीतर की सामग्री से जाला बनाया। ईश्वर को किससे बचना था ? जगत् बनाने का कारण क्या था ? सामग्री के अभाव से ब्रह्म में से सामग्री कैसे निकली ? यह जगत् निर्विकारी है या विकार वाला ? विकार वाला जगत् निर्विकार ब्रह्म में से कैसे उत्पन्न हुआ ? और ईश्वर का इससे क्या प्रयोजन सिद्ध होता है।

अविद्या के सम्बन्ध में स्वामी शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म ही माया के सम्बन्ध से ईश्वर बन गया, माया और अविद्या के वशीभूत होकर ईश्वर से जीव बन गया।

वश में करने वाला प्रबल होता है या वश में होने वाला ? दुर्बल व्यक्ति सबल व्यक्ति से बल प्राप्त करता है। ब्रह्म सबल होते हुए, माया के वश में होकर ईश्वर और ईश्वर अविद्या के वश में होकर जीव रूप में आ जाना, यह ब्रह्म का पतन नहीं हुआ क्या ? परमात्मा को कर्मफल से रहित माना है। फिर वह कौन से कर्म-फल के कारण जीव बन गया ? और जो जिसका स्वाभाविक गुण होता है, वह उससे पृथक नहीं हो सकता। जीव बनने से सर्व-व्यापकता, सर्वगुण सम्पन्नता, सर्व शक्तिमत्ता के गुण ब्रह्म में कहाँ रहे ? अल्पज्ञता, दुर्बलता, ईर्षा, द्वेष आदि ये गुण ब्रह्म के नहीं हो सकते और गुण गुणी के बिना नहीं रह सकते। ब्रह्म के अतिरिक्त जब कि कोई अन्य सत्ता थी ही नहीं।

ब्रह्म पर माया का पर्दा पडने पर ब्रह्म जीव बन जाता है। पुनः कर्म करके जीव मुक्ति प्राप्त करके ब्रह्म बन जाता है।

जीव बनकर बन्धन में आया। कर्म करके मुक्त होगा तो फिर ब्रह्म नित्य मुक्त स्वभाव नहीं रहा। इससे ब्रह्म का जन्म और मृत्यु भी सिद्ध होती है।

मैंने आप जैसे प्रश्न करके एक वेदांती से उत्तर मांगा, तब रोष में आकर कहने लगे तुम संस्कृत पढे हो ? कुछ आध्यात्मिकता में योग्यता रखते हो ? गुरु सेवा में रहकर कुछ सीखा है ? या केवल कुतर्क करने के लिए आ गये हो। यह विषय विद्वानों का है, तुम जैसे छोकरों का नहीं।

स्वामी शंकराचार्य के तप, त्याग, विद्वत्ता, प्रतिभा आदि के प्रभाव को देखकर श्रद्धा से मस्तिष्क झुक जाता है, पर अहं ब्रह्मास्मि जगत् मिथ्या वाला सिद्धांत समझ में नहीं आता। ब्रह्म को जो महत्व दिया, वह तो सराहनीय है पर जगत् की जो अवहेलना की, इससे

बहुत हानि हुई और हो सकती है। वेद ने मातृभूमि की रक्षा के लिए सर्वस्व समर्पण कर देने की शिक्षा दी है। गीता में श्री कृष्ण ने युद्ध में अर्जुन को विजेता बनाने के लिए जो उपदेश दिया है, बात उसके विपरीत पड़ती है।

मैंने एक परापूजा नाम की पुस्तक पढी है, जो श्री शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। उस में एक ईश्वर की उपासना, प्रतिमा पूजा का खण्डन तथा देवता वाद का प्रबल खण्डन पढा है। साथ ही उनके भक्तों ने देवताओं की मान्यता और प्रातमा पूजन की भी बातें चला रखी हैं। ये परस्पर विरोधी बातें समझ में नहीं आतीं।

इससे ज्ञात होता है कि स्वामी शकराचार्य ने तप और त्याग को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। दूसरी ओर उनके शिष्यों ने जन बल के आगे सिद्धांत में समझौता कर लिया। जगत को मिथ्या कह कर जड़ प्रतिमा को सत्य समझकर ईश्वर का स्थान देना आश्चर्य की बात है। प्रायः मनुष्य में यह दुर्वलता देखा गई है. एक ओर तो वह अपनी बात पर सर्वस्व समर्पण कर देता है तो दूसरी आर इस प्रकार अपने वचनों का खण्डन कर देता है।

स्वामी शंकराचार्य शंकर के अवतार थे, उनकी बात मिथ्या नहीं हो सकती, ऐसा वेदांतियों का कथन है।

स्वामी रामानुजाचार्य भी शेष के अवतार थे! इन दोनों में मतभेद रहा है। इसी प्रकार हज़रत महम्मद खुदा के दूत और ईसा मसीह ईश्वर के खास बेटे थे। इन सब में भी विचार भिन्नता मिलेगी। तब किसकी बात सत्य मानी जाए? मत भद अल्पज्ञ होने के नाते रहना अनिवार्य है, पर औलादों में और मन्त्र द्रष्टा ऋषियोंमें मतभेद नहीं होना चाहिए। क्योंकि सत्य में मतभेद नहीं हो सकता अर्थात् एक प्रश्न के अनेक उत्तर नहीं हो सकते।

स्वामी शंकराचार्य की परकाया-प्रवेश वाली बात कहां तक सत्य है?

परकाया प्रवेश वाली विद्या योगियों का विषय है। इसे सत्य मानकर भी विचार करें तो भी संतोष नहीं होता। स्वामी शंकराचार्य कामशास्त्र के सम्बन्ध में निरुत्तर हो गए थे। तब ६ मास का अवसर मांगा। राजा के मृतक शरीर में प्रविष्ट होकर उसकी रानी के साथ रमन किया। क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करके विजय प्राप्त की। स्वामी शंकराचार्य का स्व शरीर चरित्र से तो भ्रष्ट नहीं हुआ पर आत्मा तो पतित हो गई। सन्यासी होकर विषयभोग में फंस जाना, यह उचित नहीं था। स्वामी शकराचार्य बाल ब्रह्मचारी और सन्यासी थे। यदि वे इस विषय को मैं नहीं जानता, कह टाल देते तो क्या बुरी बात थी। किसी व्यक्ति को सभी बातों में पारंगत होना तो आवश्यक नहीं। यदि किसी शास्त्री से कोई मल्ल ललकारे तो क्या उससे कुश्ती लड़ना आवश्यक है? जिस विषय का जो विद्वान् होता है, उस विषय में उसे पारगत होना चाहिए। हमारा तो विश्वास है कि बहुत सी बातें भक्त लोग अपने गुरुओं के जीवन के साथ पीछे से जोड़ देते हैं। इस बात से स्वामी शकराचार्य शंकर के अवतार थे, इस बात का भी खण्डन हो जाता है।

स्वामी शंकर के विषय में विद्वानों का यह भी कहना है कि जड़वादी नास्तिकों, वर्तमान के भौतिकवादियों को परास्त करने के लिए, ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या का सिद्धांत अपनाया होगा?

यदि यह मान भी लें तो उस समय तो उन्हें सफलता मिली, पर नया वाद एक और आ धमका। यदि ब्रह्म को सच्चिदानन्द, जीव को सत्‌चित, प्रकृति को सत् सिद्ध कर तो कर सकते थे! उनमें इतनी प्रतिभा थी।

इस वाद से हानि क्या है?

ईश्वर की सत्ता न मानने से भोगवाद की पराकाष्ठा होती है। उसके कारण हिंसा और द्वेष की प्रवृत्ति बढ़ती है। जीवों की पृथक सत्ता न मानने से हिंसा का विस्तार होता है और प्रकृति की सत्ता न मानने से भौतिक अभ्युदय की अवहेलना होती है। जगत् में

भौतिक उन्नति की अवहेलना और राष्ट्र रक्षा में रुकावट होती है। विद्वानों के मतभेदों से सत्य धर्म की हानि होती है। इस से अन्य मत-वालों को आक्षेप करने का अवसर मिलता है। ईश्वर की कृपा है कि वेदान्ती जगत् मिथ्या वाली बात वाणी मात्र से कहते हैं। वस्तुतः व्यवहार में जगत् को सत्य मानकर ही चलते हैं। यदि वे मिथ्या मानते तो और अधिक हानि होती। जीव को मुक्ति न मिलने तक बार बार इसी जगत् में आना पड़ता है। सभी कुछ कर्म यहीं किये जाते हैं। मुक्ति भी इसी शरीर में संसार से शुभ कर्म करने के फल स्व-रूप मिलती है। जगत् के विना जीवों की गति नहीं।

ईश्वर बिना कर्म किये फल नहीं देता और कर्म करने पर फल दिये बिना नहीं रहता। हमको भी चाहिए कि किसी के कर्म करने पर ही दें।

बात तो यही उचित है पर पुरुषार्थ करने पर भी आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके, ऐसों की सहायता करनी चाहिए। पूर्व पापों के कर्म फल स्वरूप कष्ट पाते हुए भी जो कुकर्म करता हो, उसकी सहायता नहीं करनी चाहिए।

पापियों को दान देना पाप को बढावा देना है और पापियों से दान लेना, उनके पाप का भागीदार बनना है। क्या यह बात सच है?

बात तो सच है। जहाँ तक हो सके इस बात पर ध्यान रखना चाहिए। विवशतावश लेना देना पड़े तो उसका फल जो मिलना है, मिलेगा ही।

पात्र की पहचान क्या है?

वह सदाचारी हो, सत्यवादी हो, पुरुषार्थी हो, निर्व्यसनी हो। ऐसे सुपात्रों को बिना मांगे दान देना चाहिए। देने के पश्चात् अपने मन में घमण्ड नहीं करना चाहिए और भूल जाना चाहिए। धन रहने पर पात्रों को दान न देना अपयश और अधर्म की बात है और निर्धन रहने पर धन दान न दे सकने पर श्रमदान, ज्ञानदान

अवश्य देना चाहिए। कृपणता बहुत बड़ा अभिशाप है। इसलिए देने का अभ्यास रखना चाहिए। दान अपने लिए मांगना नहीं चाहिए, परहितार्थ मांगने में दोष नहीं।

ज्योतिषी लोग भविष्य की बतलाते हैं, वे सत्य होती हैं क्या?

ज्यों की त्यों पूरी घटनाएँ भविष्य में घटने वाली तो बतला नहीं सकते। कुछ बातों के संकेत मात्र से अनुमान लगा कर बतलाते हैं। जो होनहार है, होकर रहती है। यह भी कहते हैं और होनहार पूजा आदि से बदला जा सकता है यह भी कहते हैं। जो कर्म हम नये करते हैं, उनका फल जो अभी निश्चित ही नहीं हुआ, उन्हें कैसे बतलाएँगे? भविष्य की कितने समय की बातें बतला सकते हैं। अर्थात् सौ दो सौ हजार वर्ष के पश्चात् की बातें क्या बता सकते हैं? यदि नहीं बता सकते तो क्यों? कई भविष्यवाणियां असत्य भी सिद्ध हुई हैं। ज्योतिष के मानने वाले तथा स्वयं ज्योतिषी अपने कर्म फलों को नहीं बदल सकते। हमने देखा है ज्योतिष को न मानने वाले निर्भय रहते हैं और मानने वाले उसी चक्कर में घूमते रहते हैं। होने वाली दुर्घटना की बात सुनकर मनुष्य पहले से ही चिंतित हो जाता है। विशेष लाभ की बात सुनकर उस दिन की प्रतीक्षा में चिंतित रहना पड़ता है। आपत्तियां और विशेष लाभ अनायास हो जाने पर ही ठीक रहता है। पूर्व सूचना से विशेष लाभ नहीं। ऐसी हमारी मान्यता है।

अच्छा यह बताइए क्या जन्म, मृत्यु और विवाह का दिन निश्चित रहता है?

प्रसव न होने पर आपरेशन द्वारा प्रसव कराया जाता है। तब जन्म दिन के निश्चत वाली बात असत्य हो जाती है। औषधियों और शुभ कर्मों द्वारा आयु बढ़ती है। यह भी देखा गया है कि आजकल ऐसी भी बीमारियां होती हैं, यदि समय पर उपचार हो जाए तो उनसे बचाया जा सकता है। उपचार न होने पर तुरत मृत्यु हो जाती है। वर्तमान में मानवों की आयु का एवरेज बढ़ा है, ऐसा प्रत्यक्ष बताया जाता है। इससे मृत्यु के दिन निश्चित है,

समझ में नहीं आता। वेद ने भी 'पश्यम शरदः शतम्' कहा है। विवाह का दिन भी यदि निश्चित होता तो मनुष्य द्वारा, ज्योतिषियों द्वारा, दिन निश्चित करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। हमारे विचार से दिन निश्चित नहीं है।

क्या परमात्मा भी हमारे भविष्य की बातों को नहीं जानता?

आपके भविष्य की उसको जानने की आवश्यकता ही क्या है। उसके जानने पर आपको क्या लाभ होगा? आपने कर्म किये ही नहीं, उनके फलों को कैसे जानेगा? हाँ, आपने जो कर्म किये हैं, उन्हें वह जानता है, पर आपको क्यों कहेगा? यदि विना कर्म किये कर्मों को और उसके फलों को वह जान लेता है, ऐसा मानने पर कर्म करने की हमारी स्वतन्त्रता कहाँ रहेगी? लोग तो कर्म भी भाग्यानुसार मनुष्य करता है, कहते हैं। तब तो मनुष्य कर्म करने में परतन्त्र हो गया, तब उन कर्मों का फल उसे नहीं मिलना चाहिए, पर फल मिलता है। इससे यह बात असत्य सिद्ध होती है।

लोग कहते हैं, पूर्व काल में मनुष्यों की आयु सहस्रों-लाखों वर्षों की होती थी।

आप ही विचारिए इतनी आयु का होना वरदान होगा या अभिषाप? धरती पर कहीं स्थान भी रहने के लिए मिल सकेगा? वस्तुतः सहस्र शब्द का अर्थ लम्बी आयु करना चाहिए।

कहते हैं योगी लोग दूसरे के मनों की बातों को जान लेते हैं, ऐसी भी विद्या है। कितना अच्छा होता यदि सभी मानव एक-दूसरे के मन की बात जान लेते!

अच्छा नहीं होता, अपितु मानवों में झगड़े होते, शत्रुता बढ़ जाती। अच्छा है जो नहीं जानते। ईश्वर की ओर से जिस प्रकार की रचना और व्यवस्थाएँ हैं, वे जीवों के लिए लाभकारी हैं। आवश्यकता से अधिक मनुष्य यदि उन में हस्तक्षेप करेगा तो प्रत्यक्ष लाभ भले ही हो पर अंततः हानि ही उठाएगा।

क्या अन्य लोकों में जाने की योजनाएँ बनाना व्यर्थ है?

चन्द्र लोक में जाने वाले बड़े साहसी थे। भंजने वाले बहुत बड़े बुद्धिमान थे, यह माना जा सकता है पर जीवों के हित में क्या वृद्धि हुई। यही बात एटम बम आदि पर विचार कीजिए।

प्रायः लोग कहते हैं कि किसी के मत का खण्डन मत करो।

वे कहने वाले स्वयं खण्डन करते हैं। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं उन्होंने एक दूसरे का खण्डन किया है। क्योंकि खण्डन वाली बात का खण्डन किय बिना, मण्डन वाली बात का मण्डन नहीं हो सकता। जर्जरित पुराने भवन को हटाए बिना नूतन भवन का निर्माण नहीं हो सकता। हां, खण्डन व्यावहारिकता और बुद्धिमत्ता के साथ करना चाहिए। इसमें द्वेष और कटुता का अंश न हो।

क्या बुरों को बुरा नहीं कहना चाहिए अर्थात् किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए ?

संसार में तीन भय होते हैं— १. ईश्वर भय २. लोक–निंदा का भय ३. शासन का भय। यदि ये तीनों भय समाप्त हो जाएँ तो मनुष्य उच्छृंखल और उद्दण्ड बन जाएगा और पाप बढ़ जाएगा। बुरे को बुरा और भले को बुरा कहना निंदा है। इसलिए निंदा के योग्य व्यक्तियों की निंदा और प्रशंसा के योग्य व्यक्तियों की प्रशंसा पूरी जानकारी करके यथार्थ रूप में करनी चाहिए।

क्या स्वार्थ साधना बुरा है ?

स्वार्थ साधना बुरा नहीं है, स्वार्थ की पराकाष्ठा बुरी है। स्वार्थ के साथ परमार्थ को भी साधना चाहिए। पुण्य कार्य इसी को कहते हैं कि अपना भी भला हो और दूसरों का भी भला हो। संसार में चार प्रकार के व्यक्ति होते हैं— एक वे जो अपनी हानि करके भी दूसरों को लाभ पहुँचाते हैं। दूसरे वे जो अपना भी लाभ करते हैं और अन्यों को भी लाभ पहुँचाते हैं। तीसरे वे जो अपने लाभ के लिए अन्यों को हानि पहुँचाते हैं। चौथे वे जो स्वयं हानि उठाकर भी अन्यों को हानि पहुँचाते हैं। प्रथम श्रेणी की बात साधु और सन्यासियों का मुख्य धर्म है और सामान्य जनों के लिए भी आवश्यक है। दूसरी श्रेणी की बात सर्वदा के लिए अच्छी है।

तीसरी श्रेणी की बात अधम कोटि की है। चौथी श्रेणी की बात को तो अधमाधम कोटि की होनी चाहिए।

क्या किसी से प्रतिशोध लेना बुरा है ?

जो व्यक्ति आततायियों से प्रतिशोध लेना नहीं जानता उसे जीने का आधिकार नहीं है. पर प्रतिशोध परिस्थिति, व्यावहारिकता तथा बुद्धिमत्ता के अनुसार लेना चाहिए।

'दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान' वाली बात कहां तक ठीक है ?

दया पात्रों पर करनी चाहिए। जहाँ दण्ड देना धर्म है, वहाँ दया करना अधर्म है। इसी प्रकार घृणा के पात्रों से दूर रहना चाहिए। जो शत्रुता दिखाते हों, उनसे सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। वेद ने भी दुष्टों के दमन का उपदेश दिया है। गीता भी इन्हीं बातों का उपदेश देती है।

क्या शत्रु का होना बुरा है ?

शत्रुओं की संख्या घटे, मित्रों की संख्या बढ़े, प्रयत्न इसी बात का होना चाहिए। पर यदि कोई शत्रुता करे तो उसका यथायोग्य प्रतिकार करें। बाहरी शत्रु जितनी हानि पहुंचा सकता है, भीतरी शत्रु काम, क्रोध, लोभ. मोह, ईर्षा, द्वेष और निजी मूर्खता उससे ज्यादा हानि पहुँचाते हैं। इन आंतरिक शत्रुओं पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। शत्रु का होना उतना बुरा नहीं जितना समझा जाता है। शत्रु के कारण मनुष्य सावधान रहता है, पुरुषार्थ करता है और हर प्रकार से विकास करता है।

क्या भूत प्रेतादि योनियां होती हैं ?

इनकी मान्यता सर्वमान्य नहीं है। किन्हीं का कहना है कि होती हैं, किन्हीं का कहना है कि यह मन की उद्विग्नता मात्र है। न मानने वाले निर्भय रहते हैं, मानने वाले भयभीत। अधिकांश में लोग अपनी कल्पनाओं से ही भयभीत रहा करते हैं।

सारे मजहब शराब आदि बुराइयों को बुरा कहते हैं, पर बल पूर्वक उस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाते हैं और अनजान हो जाते हैं, क्या कारण है ?

इन्हें यह भय है कि प्रतिबन्ध लगाने पर हमारे समर्थकों की संख्या घट जाएगी।

संध्या दो बार ही क्यों करनी चाहिए ?

आपकी इच्छा जितनी बार करने की हो करते रहिए, मना कौन करता है पर कम से कम दो बार अवश्य कीजिए।

मानलो कभी समय न मिले तो कैसे और कहां करें ?

जहां समय मिल जाए कर लें। चलते चलते, बस या रेल में बैठे हों तो भी वहीं करलें।

अग्निहोत्र से क्या लाभ है और अग्निहोत्र अशुद्ध स्थान पर भी कर सकते हैं क्या ?

परमात्मा तो नित्य शुद्ध बुद्ध पवित्र है। यदि आपका मन वहाँ लगता हो तो कर लें।

अग्निहोत्र करने से क्या लाभ है ?

शास्त्रों और वैज्ञानिकों का यह कहना है कि प्रज्वलित अग्नि में शुद्ध घृत और सुगंधित द्रव्य जलाने से वायु शुद्ध होती है और रोग नहीं फैलते किन्तु अधिक मात्रा में जलाने पर ही जो लाभ होना चाहिए होता है, अन्यथा नहीं।

विधि के साथ वेद मन्त्र क्यों बोलने चाहिए ?

उन मन्त्रों में उसका (विधि का) महत्व बताया गया है। वेद मन्त्र कण्ठस्थ हो जाएँ, अभ्यास बना रहे, उनमें जो क्रियाएँ होती हैं, उनके संकेतों को समझें। जैसे—अग्नि की ज्वाला ऊपर उठती है, मनुष्य का जीवन स्तर भी ऊपर उठना चाहिए। अग्नि तेज-स्वरूप है—मनुष्य को भी तेजस्वी बनना चाहिए। अग्नि में डाली घृत आदि सामग्री सुगन्ध फैलाती है, मनुष्य को भी उत्तम कर्म

करके यश फैलाना चाहिए। अग्नि सामग्री आदि को जलाकर सूक्ष्म रूप करके संसार में फैला देती है, इसी प्रकार मनुष्य को भी सौ हाथों से कमा कर के सहस्र हाथों से बांटना चाहिए। यज्ञ में प्रयुक्त 'इदम् न मम' का भावार्थ यही है। अग्निहोत्र द्विजमात्र को करना चाहिए परन्तु यज्ञ विद्वान्, ब्राह्मण के द्वारा हो और उसमें पवित्र कमाई का धन व्यय किया जाना चाहिए। असली घृत और उत्तम होम द्रव्यों द्वारा होना भी आवश्यक है।

क्या सोलह संस्कार करना आवश्यक है ?

आवश्यक तो है। दुर्भाग्यवश प्रत्येक हिन्दू करता नहीं। सुसंस्कृत बनने के लिए संस्कार किये जाते हैं। जैसे मिट्टी के संस्कार से ईंटें बनती है, ईंटों के संस्कार से दीवारें बनती हैं और प्रत्येक वस्तु को संस्कारित करने पर भवन का निर्माण हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को विद्या पढ़ाकर, उपदेश देकर तय्यार किया जाता है। इन सारी बातों का नाम संस्कार है। संस्कारों में अधिक दिखावा, अधिक व्यय नहीं करना चाहिए। हाँ, एक संस्कार है अन्तिम-मृतक संस्कार, उसमें शुद्ध घी, शुद्ध सामग्री अधिक मात्रा में जलाना चाहिए।

वानप्रस्थ और सन्यस्थ क्या अनिवार्य है ?

स्वास्थ्य व परिस्थिति के साथ देने पर, पढ़ने तथा शिक्षा देने की योग्यता रहने पर, साथ ही पूर्ण वैराग्य की भावना होने पर अवश्य लेना चाहिए। गृहस्थ में वानप्रस्थ का, वानप्रस्थ में सन्यास का अभ्यास करते हुए आगे बढ़ना चाहिए। विपरीत आचरण करके आश्रमों को बदनाम कर समाज पर भार नहीं बनना चाहिए।

सभी मतों के व्यक्ति, साधु, सन्यासी, महन्त, फकीर, पादरी आदि ऐसा दर्शाते हैं जैसे इन की मुक्ति तो निश्चय हो ही जाएगी।

ऐसा समझना उनकी भूल है पर प्रायः धन, विद्या, सत्ता और सम्मान मिलने पर मनुष्य अतिमान में आ ही जाता है। सच्चा धर्मात्मा तो वही है जो अपने को ठीक पहचाने।

सभ्यता और संस्कृति में अन्तर क्या है ?

सभ्यता शारीरिक और भौतिक रहन सहन व सजावट का नाम है। संस्कृति मानसिक उत्तम विचारों का नाम है। मनुष्य को चाहिए कि सभ्यता से अधिक सस्कृति पर ध्यान देवें।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः तीन बार क्यों बोला जाता है ?

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकार की शान्ति, व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक शांति और व्यक्ति के लिए उसकी शारीरिक तथा आत्मिक शान्ति का संकेत है। शांति पाठ करके उस प्रकार का प्रयत्न भी करना चाहिए, जिससे शांति रहे।

किसी को दान देते समय ११, २१, १०१ ऐसा क्यों देते हैं ?

१०.२०,१०० देने पर पूर्ण विराम का सकेत हो जाता है। १ अधिक देने से पुनः आ सकते हैं, इसका संकेत है।

राखी बांधने का क्या कारण है ?

समय पर रक्षा करने के लिए मैं तत्पर हूं, यह संकेत है।

किसी के आगमन पर लेने जाना और जाने पर कुछ दूर तक पहुँचाना क्या उचित है ?

यह शिष्टाचार है।

सामने वाले से हाथ मिलाकर अभिवादन करना ठीक है क्या ?

नहीं। अपने दोनों हाथ हृदय के पास ले जाकर मस्तिष्क झुका कर. वाणी द्वारा नमस्ते कहते हुए अभिवादन करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि मैं शक्ति, ज्ञान और हृदय से आपका स्वागत करता हूँ, यह संकेत है। अन्यों से हाथ मिलाने पर हानि है, यह तो आज के वैज्ञानिक भी कहते हैं।

नाम के पहले श्री क्यों लगाया जाता है ?

श्री सम्मान सूचक माना गया है।

महिलाओं के नाम के आगे बाई, बहन, मां शब्द क्यों प्रयोग किया जाता है ?

भावना में पवित्रता रखी जाए, यह संकेत है।

किस काम को करें और किस काम को न करें ?

जिसे वेद करने को कहता है, उसे अवश्य करें। जिसका वेद खण्डन करता है, उसे कभी न करें। जिसका वेद खण्डन-मण्डन न करे, उसको करने में विवेक से काम लें।

कला के नाम पर जो बालिकाओं व युवतियों के नृत्य होते हैं, वे होने चाहिए या नहीं ?

केवल महिलाओं में होने चाहिए। पुरुषों के सामने नहीं होने चाहिए।

ब्रह्मचारी कुमारियों को बहन समझें तो विवाह किससे करें ?

विचारों में कामुकता उत्पन्न न हो इसलिए मां बहन कहा जाना चाहिए। उन्हीं में से किसी से भी विवाह करने पर पत्नी बन जाने पर दोष नहीं आता। क्रय न करने तक मिठाई को मिठाई न समझी जाए पर क्रय करने पर वह मिठाई खाने योग्य समझी जाए।

एक रक्त में विवाह क्यों नहीं करनी चाहिए ?

इससे हानि होती है। यह बात पश्चिमी विद्वान् भी मानते हैं। इसीलिए मनु आदि ऋषियों ने मना किया है।

प्रत्यक्ष हानि तो होती हुई दिखाई नहीं देती ?

बात ठीक है। धीरे धीरे होने वाली हानि दिखा नहीं करती। पर समय पर हानि तो होती ही है।

मामा की बेटी से विवाह करना क्या ठीक है?

जिस समाज ने इस बात की स्वीकृति दे दी है. इसके लिए व्यक्ति का अपराध तो नहीं माना जाएगा, पर जो हानि होनी है वह तो होगी। और इस बात का अपराधी समाज होगा।

विवाह किनसे करना चाहिए ?

माता की छः पीढ़ी और पिता का गोत्र सदा के लिए छोड़ा जाना चाहिए। माता का रक्त छः पीढ़ी में बदल जाता है। यह बात वैज्ञानिकों ने भी मानी है।

श्रीकृष्ण जी अर्जुन आदि ने तो किये थे !

यही कारण है कि आज भी हो रहे हैं। महापुरुषों के उन्हीं पद चिन्हों पर चलना चाहिए जो धर्म संगत हों। उनमें भी किसी न किसी कारण से कहीं न कहीं कमी रह ही जाती है।

सभी हिन्दु अपने वर्ग की उत्पत्ति एक ही महापुरुष द्वारा मानते हैं। जैसे— कोई कहता है हम सब वाल्मीकि की सन्ताने हैं, कोई पराशर की, कोई श्रृंगीऋषि की, कोई सूर्यवंशी की, कोई चन्द्र वंशी की और कोई अग्रसनजी की। जब इनका मूल पुरुष एक ही है फिर आपस में बटी व्यवहार करते हैं साथ ही सगोत्र को टालते भी हैं, प्रश्न करने पर शब्द जाल की रचना करके उलझा देते हैं और यथार्थ उत्तर नहीं देते। इस बात पर प्रकाश डाल सकते हैं क्या ?

मैंने भी कई विद्वानों से प्रश्न किया। जो उत्तर आपको मिले वही उत्तर मुझे भी मिले। संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सका। मैंने अपने वर्ग के विद्वानों से पूछा कि ऋषि दधीच की १२ सताने और उन १२ की बारह बारह सताने, उन १४४ की हम सब संताने। मूल पुरुष तो एक ही हुआ अर्थात् हम सब एक ही रक्तज हुए और पूछा अन्य ऋषियों के वर्ग से बेटी व्यवहार करने में क्या दोष है ? इसका भी उत्तर नहीं मिल सका।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जन्म से माना जाना चाहिए या कर्म से ?

मैं आपसे कुछ प्रश्न करना चाहता हूँ, उनके उत्तर दीजिए, आपके समझ में आएगी। १– एक व्यक्ति जो सेना में भरती हो गया है उसे क्या कहेंगे ?

सैनिक अर्थात् रक्षक ।

वह क्षत्रिय हो गया कि नहीं ? और २– अध्यापक बननें पर ?

शिक्षक ।

वह ब्राह्मण बन गया या नहीं ? और ३– धन्धा करने वाले को ?

व्यापारी या पोषक ।

फिर वैश्य कहने में क्या आपत्ति है । ४– और कुली, चपरासी, ओढ़, बढ़ई आदि को ?

सेवक या कर्मचारी ।

इसका अर्थ क्या हुआ ? मुख से चाहे न मानने पर भी क्रिया में तो मानना ही पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जन्म जात कुछ भी होते हुए कर्म के आधार पर, वर्ण हो गया और अग्रवाल माहेश्वरी, विजयवर्गीय कहलाने वाले पूर्व में सब क्षत्रिय थे। इनको वैश्य बना दिया गया। पौराणिक जगत् सब मानता है। जाति कहते हैं रक्त से सम्बन्ध रखने वाली योनियों को। पशु, पक्षी, मानव इत्यादि। वर्ण कहते हैं जो भी व्यक्ति जिस काम को उसके आधार पर चुनले।

जो दुर्व्यसनी मांसाहारी व्यक्ति हैं, उन्हें क्या कहेंगे ?

ये सब दस्यु, अनार्य कहलाएगे। आज का वातावरण अनुकूल न होने से वर्ण-व्यवस्था नहीं की जा सकती। यह बात दूसरी है।

पशु पक्षी कीट पतंगों आदि में भी जीव होते हैं क्या ?

हाँ होते हैं। उनमें स्वाभाविक ज्ञान भी होता है। उन्हें सुख-दुःख भी होता है। वे अपने को जीवित भी रखना चाहते हैं। उनके अपने संकेत होते हैं जिनके द्वारा वे अपना काम चलाते हैं। उनको अपने खान-पान का, अपनी सुरक्षा का, आक्रमण करने का, शत्रु, मित्र का, स्वजातीयता का, प्रजोत्पत्ति का ज्ञान होता है और किसी किसी में तो मनुष्यों से अधिक होता है। सिखाने पर किंचित् नैमित्तिक ज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं।

कई मत वलम्बी इनमें जीव नहीं मानते और इनका मांस खाने में धर्म समझते हैं।

जिस पुस्तक को जो मान्यता दे देता है, उसमें जो लिखा है, वह उसी को धर्म मानता है। उसे समझना अत्यन्त कठिन है और यदि वह मान भी लेता है तो स्पष्ट नहीं बोल सकता क्योंकि उसे अपने मत में रहना है। आश्चर्य तो इस बात का है कि वेद, शास्त्र, गीता, पुराण आदि मानने वाले जीवों की सत्ता को तो मानते हैं. अहिंसा को परम धर्म कहते हैं, भाग्यवाद, कर्मवाद, स्वर्ग, नर्क तथा मुक्ति के सिद्धांत को भी मानते हैं। मृतक पितरों का श्राद्ध भी करते हैं और पशु-हिंसा भी करते हैं तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाने वाले भी। सब नहीं, पर कुछ लोग ऐसे हैं। इन जागे हुए लोगों को कैसे जगाएं।

जिस वातावरण में जो रहते हैं और जैसा अपना स्वभाव, अभ्यास बना लेते हैं और जिस बात को पकड लेते हैं, उसे छोडना नहीं चाहते, फिर वे अपनी पकडी बात की वकालत करते रहते हैं। इस धृष्टता को क्या कहा जाए।

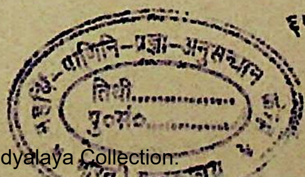
आपने ठीक समझा है। पूर्व में लोग धर्म के नाम पर बलि देकर मांस खाते थे, आज के लोग सभ्यता और फैशन के नाम पर खाते हैं।

मांस खाने में पाप क्यों है ?

क्योंकि बिना जीवों की हिंसा किये, मांस नहीं मिलता और हिंसा करना पाप है। और यदि आपको काट कर आपका मांस खाना चाहे तो उसे आप बुरा मानते हैं तो फिर आपको भी अन्यों का मांस नहीं खाना चाहिए। किसी के जीने का अधिकार छीनना पाप है।

मृतक पशुओं का मांस खाना तो पाप नहीं होना चाहिए।

हिंसा का पाप तो नहीं लगेगा, पर स्वभाव बिगड़ जाएगा और मांस को अपवित्र माना गया है। क्योंकि यह रज और वीर्य के बने शरीर का भाग है और यह मनुष्य का नैसर्गिक भोजन नहीं है।



नैसर्गिक भोजन नहीं, इसका क्या प्रमाण है ?

मनुष्य का गुण, कर्म, स्वभाव शाकाहारी पशुओं से मिलता है, मांसाहारियों से नहीं। मनुष्य सिंहादि की भांति मात्र कच्चा या पका मांस और रक्त का सेवन करता हुआ जीवन नहीं बिता सकता पर कच्चा या पका अन्न का सेवन करता हुआ जीवन बिता रहा है। इससे सिद्ध है कि अन्न ही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है।

मांसहारी पशुओं के लक्षण क्या है ?

वे इकट्ठे रहना नहीं चाहते। उनसे मनुष्य सेवा नहीं ले सकता। वे क्रूर आकृति के होते हैं। उनको पसीना नहीं आता। उनके मुख से लार टपकता है। उनकी मैथुन क्रिया पृथक ढग की होती है। वे पीछे की टांग उठाकर मूतते हैं। जन्मते समय उनकी आंखें बन्द रहती हैं। पूर्ण मांसाहारियों के दांत नहीं गिरते। वे अन्यों से भयभीत रहते हैं। रात्रि में घूमते हैं। अधिक समय तक नहीं लड सकते। अधिक दूर नहीं दौड़ सकते। अन्धकार में भी देख लेते हैं। जिह्वा निकाल कर पानी पीते हैं। उनके दांत भी पृथक ढंग के होते हैं। उनकी अन्तड़ियां शाकाहारियों से भिन्न होती हैं। शाकाहारियों के लक्षण सुनिए। वे इकट्ठा रहना चाहते हैं। सेवा में काम आते हैं। (जंगल में रहने वाले मनुष्यों के सम्पर्क में न रहने से सेवा में काम नहीं आते) आकृति में क्रूरता नहीं होती, पसीना आता है, पानी चूसकर पीते हैं, जन्मते ही आंखें खुली रहती हैं, रात्रि में (कम दीखता है) रात्रि में घूमते नहीं, दांत तीखे नहीं होते, अधिक दूर तक भाग सकते हैं। अधिक देर तक लड़ सकते हैं। ये सारी बातें मनुष्यों से मिलती हैं। इसलिए मांस मनुष्यों का भोजन नहीं।

जीवित पशुओं को काटकर खाना पवित्र और मरे हुए पशुओं को खाना अपवित्र मानते हैं, ऐसा क्यों ?

पवित्रता, अपवित्रता का मापदण्ड वैज्ञानिकता से माना जाए तो कुछ सोचा जा सकता है पर अपने मतानुसार मानने पर कुछ नहीं कहा जा सकता।

पशु हिंसा पाप है, किस आधार पर कहा जाए ?

जैसे मनुष्य जीना चाहता है वैसे ही प्रत्येक जीव (पशु) प्राणी जीना चाहता है। मनु भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार का व्यवहार तुम अन्यों से चाहते हो, उसी प्रकार का व्यवहार अन्यों से करो। इसी का नाम पुण्य कार्य है।

तो क्या खटमल मच्छरों को भी नहीं मारना चाहिए ?

जो हमें हानि न पहुँचाए, उन्हें तो कदापि मारना नहीं चाहिए। पर हानि पहुँचाने वालों को बिना मारे काम न चले तो मारना चाहिए। फिर पाप नहीं लगेगा।

उस पाप के फल को भोगने तैय्यार रहना चाहिए ?

आपने ठीक समझा है।

बिना इच्छा के भी विवश होकर कुछ हिंसा करनी पड़ती है, उसके लिए क्या किया जाए ?

पंच महायज्ञ आदि उपकार का कार्य करके पश्चाताप और प्रायश्चित करें।

लोग कहते हैं कि मांस खाना शेर-सिंहों का काम है ?

सिंह वीर नहीं है, वह क्रूर पशु है। वीर वे होते हैं जो अन्यों के लिए स्वयं का बलिदान कर दें।

मांस न खाने पर पशु संख्या बढ जाएगी, धरती पर स्थान ही नहीं मिलेगा।

इसकी चिन्ता आप को आज तो करने की आवश्यकता नहीं है। जब बढ़ जाएगी उस समय के लोग बुद्धि अनुसार व्यवस्था कर लेंगे।

जिन अंडों में जीव नहीं होते, उन्हें खाने में तो पाप नहीं है ?

रज वीर्य का मेल होने से वे अपवित्र कहलाते हैं, इसलिए नहीं खाना चाहिए। वृक्ष सूर्य की गर्मी से पकते हैं जल से पोषित होते हैं और शरीरधारी जठराग्नि से पकते हैं और रज-वीर्य से पोषित होते हैं। इसलिए वे पवित्र और मांस अपवित्र माना गया है।

फिर तो दूध भी अपवित्र है और श्वेत रक्त है, ऐसा मानना पड़ेगा !

नहीं। यह सूर्य के किरणों से पकता है– जल से पोषित होता है। आपके कथनानुसार तो मां का दूध भी नहा पीना चाहिए। निसर्ग पीने की आज्ञा देता है। हाँ उन पशुओं का दुग्ध नहीं पीना चाहिए जो उनकी सन्तान को भूखा मार कर दुग्ध बेचते हैं।

वृक्षों में भी तो जीव होते हैं ?

कुछ लोग मानते हैं, कुछ लोग नहीं मानते। पर यहां पर हम मान कर विचार करेंगे। वृक्षां की इंद्रियाँ और इंद्रियों का ज्ञान करवाने वाला मन उनमें नहीं होता। इसलिए, वृक्ष के जीव को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता। फल और दुग्ध ये अमृत है। वृक्ष से फल और डालियां तोड़ने पर पुनः फल और डालियाँ निकल आती हैं। पशुओं से दुग्ध लेने पर पुनः दुग्ध निकलता है और उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता।

कुछ तो कष्ट होता ही होगा ?

मान लेने पर भा हमें पाप नहीं होगा, क्योंकि बनाने वाले ने ऐसा कोई पदार्थ नहीं बनाया कि जिसमें जोव न हो और हम उसे खाकर जीवित रह सकें।

वृक्षों को काटने में भी पाप माना है।

उपयोगी वृक्षां को व्यर्थ काटने से उनके द्वारा जो लाभ मनुष्यों को होता है, वह नहीं हो पाता।

क्या मरे हुओं के नाम पर श्राद्ध करने से उन्हें मिलता है ?

यह विषय भी पुस्तक और विश्वास पर निर्भर है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि जिससे इस बात की सत्यता सिद्ध हो सके। संसार के करोड़ां व्यक्ति मृतक श्राद्ध नहीं करते तब उनके मृतक पूर्वजों की क्या दशा होती होगी ? पिता का श्राद्ध न करके पुत्र ने यह पाप किया और इसका दण्ड पिता को मिले, यह तो न्याय नहीं। मरने के पश्चात् पुत्र के कर्म का फल पिता को मिले, यह भी समझ में नहीं आता। दूसरा जन्म जीवों को मिल ही जाता

है तब पिता-पुत्र का सम्बन्ध कहाँ रहा ? यह बातें विचारणीय हैं। हाँ इस श्राद्ध से खाने वालों का भला हो जाता है पर भलाई और सच्चाई, दोनों साथ रहने पर ही ठीक रहता है।

कुछ लोगों के शरीरों में मृत आत्मा आती है और कुछ मांग करती है, उसकी पूर्ति करन पर चली जाती है। उन लोगों का कहना है कि कारणवश उन्हें दूसरा जन्म नहीं मिलता। वे सूक्ष्म योनियों में उद्विग्न होकर भटकती रहती हैं और अपने संबंधियों को सताती हैं !

एक शरीर मे दो अभिमानी जीव नहीं रहते, यह नियम है। हमारे विचार से यह उनके मन की कल्पना है। जिस वातावरण में मनुष्य रहता है, वह उसी में ओत-प्रोत हो जाता है। उन्हीं के विचारों से वह प्रभावित होकर कल्पना लोक में विचरता है। उसके मस्तिष्क में बुद्धि का अकुश काम नहीं करता, तब इस प्रकार की स्थिति हो जाती है। निम्न उदाहरणों से आप अनुमान लगाइए। एक व्यक्ति को डाक्टरों ने तू रोगी है–तू रोगी है कहकर उसे रोगी बना दिया। अब ठीक हो रहा है–अब ठीक हो रहा है कहकर उसे अच्छा कर दिया। एक व्यक्ति को डाक्टरों ने पानी भरे इंजक्शन की सुई लगाकर विष का इजक्शन है कहकर मार डाला। जादूगर लोग मन पर प्रभाव डालकर विभिन्न प्रकार के अद्भुत करतब दिखलाते हैं। इससे मानना पड़ता है कि ये सब मन के छुपी शक्तियों के रहस्य की बातें हैं जिनका यथार्थ निर्णय करना संभव नहीं।

अब आप से पुनर्जन्म के विषय में चर्चा करना चाहता हूँ। क्या पुनर्जन्म होता है ?

जीव का पुनर्जन्म होता है। वह नाना योनियों में अपने कर्मानुसार आता जाता है।

मैं उनकी ओर से पूछ रहा हूँ जो पुनर्जन्म को नहीं मानते। ऐसे प्रमाण चाहूँगा जो उनको मान्य हों।

वे लोग भाग्यवाद को मानते हैं। बिना कर्म किये फल नहीं मिलता, यह भी मानते हैं।

हां।

और यह भी मानते हैं कि वृक्ष होता है तभी फल होता है। कर्म किया जाता है तभी परिणाम मिलता है। यह भी मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् किये कर्मों का फल जन्नत और दोज़ख़ में जाकर भोगना पड़ता है।

हां मानते हैं।

अब आप उनके कहे हुए वचनों की रक्षा करते हुए यह बताइए कि जन्मते ही मनुष्य और पशुपक्षी, सुखी, दुःखी, निर्धन और धनवान् यह भेद किस कारण से है। जन्म लेने वाले जीव पूर्व में कर्म किये ही नहीं और सब नूतन बनाए गए हैं खुदाके द्वारा !

इसका उत्तर देना तो कठिन है।

मरने के पश्चात् जिन जीवों को सुख दुःख जन्नत और दोज़ख़ में मिलेगा, शरीर के द्वारा मिलेगा या बिना शरीर के ?

शरीर के द्वारा ही मिलेगा क्योंकि बिना शरीर, इंद्रियों और मन के आधार के बिना सुख-दुख का अनुभव नहीं हो सकता।

अब पुनर्जन्म को मानेंगे या नहीं ?

मानना तो चाहिए फिर भी वे नहीं मानते।

ईश्वर ने जिन जीवों को अपनी ओर से उनकी सत्ता के अभाव में उनको पैदा किया और आगे जाकर नहीं मिटेंगे, यह एक तर्फी बात कैसे सच मानी जा सकती है। सुनिए– करोड़ों पशु नित्य मारे जाते हैं और कई पशु नहीं मारे जाते। इन्हें बिना कर्म के फल क्यों मिल रहा है ? कर्मवाद और भाग्यवाद को मानने वाले के लिए और ईश्वर को न्यायकारी मानने वाले के लिए पुनर्जन्म को मानना आवश्यक है। चेतन जीव और सृष्टि का मूल कारण प्रकृति ये सदा से अपने स्वाभाविक रूप में रहते हैं। प्रकृति

रूपान्तरित होते रहती है और जीव जन्मान्तरित होते रहते हैं। इनका रूपान्तरित होना और जन्मांतरित होना यह ईश्वर के द्वारा होता है।

पुनर्जन्म होता है तो पूर्व की बात स्मृति में क्यों नहीं रहती ?

पूर्व जन्म की तो क्या कुछ दिनों की और कल की बात स्मृति में जीव के अल्पज्ञ होने से नहीं रहती। सब बातें स्मृति में रह जाने पर मनुष्य शांति से नहीं रह सकेगा। इसकी कल्पना करके देख लीजिए। कहीं-कहीं ऐसी घटनाऐं घटी हैं कि छोटे बालक (६–७ वर्ष के) पुनर्जन्म की घटनाओं का बखान करते हैं। एक जयपुर के प्रोफेसर ने एक सहस्त्र घटनाओं को देश विदेशों में घटी हुई संग्रह की है। जन्म-मृत्यु का प्रमाण है, तब मृत्यु जन्म का प्रमाण नहीं है क्या ? आना जाने का प्रमाण है, जाना आने का प्रमाण है। किसी का रहना उसके आने-जाने का प्रमाण है। यह बात सर्व मान्य है। फिर भी कोई न माने तो उसकी इच्छा।

क्या चौरास्सी (८४) लाख योनियों वाली बात सत्य है ?

गिनती करके बतलाना तो असम्भव है पर लाखों योनियां हो सकती हैं।

क्या सभी योनियों में जाने पर मनुष्य योनि फिरसे मिलती है ?

कर्म फल के और संस्कारों के आधार पर दो-चार दस-बीस जितनी में जाना आवश्यक है, जाते हैं। सभी में जाना आवश्यक नहीं।

कौनसी योनि किन कर्मों से मिलती है, क्या बता सकते हैं

मनुष्य में सभी योनियों के गुण रहते हैं। जिनका विकास अभ्यास के द्वारा कर लेता है। उन्हीं संस्कारों को लेकर उस प्रकार की पशु योनि में जाता है। कुछ पाप फल के शेष रह जाने पर मानव योनि में आ जाता है।

पूरे कर्म फलों का भोगकर नहीं आता, इसका क्या प्रमाण है ?

सभी जीव पूरे कर्मफल भोगकर मनुष्य जन्म पाते तो एक समान

उत्पन्न होते । पर ऐसा देखने में नहीं आता । इनकी विभिन्नताएँ इस बात का प्रमाण है ।

मनुष्य को दूसरे जन्म में मनुष्य बनने के लिए क्या करना चाहिए ?

सदाचार, सद्विचार, सत्य, अहिंसा, न्याय, दया, परोपकार, सज्जनता, शीलता, विद्यादान आदि धारण करना चाहिए ।

काणे, अन्धे, लूले, लंगड़े, निर्धन, रोगी किन कर्मों से होते हैं ?

मानव जीवन में जिन इंद्रियों का दुरुपयोग करते हैं, वे इंद्रियां छीन ली जाती हैं । जिनका सदुपयोग किया जाता है, उनका विकास होता है ।

क्या परमात्मा के यहां स्थान विशेष पर सब हिसाब लिखा जाता है ?

नहीं । जो मनुष्य जब भी जो कर्म करता है फल उसी समय उसके साथ हो जाते हैं और अवसर पर मिल जाते हैं । इसीलिए कहते हैं, ईश्वर के घर देर है पर अंधेर नहीं ।

यदि स्त्री पुरुष और पुरुष स्त्री बनना चाहे तो ?

उसी प्रकार के गुण, स्वभाव का अभ्यास कर लेने पर दूसरे जन्म में उसी प्रकार की योनि मिल जाती है । तीसरे प्रकार की योनि भी मिल सकती है ।

वर्तमान में जितने पशु काटे जाते हैं, वे पूर्व के पापों का फल पा रहे हैं, फिर काटने वाले को दोषी क्यों माना जाता है ?

इस काटने वाले को ईश्वर की ओर से अधिकार मिला हुआ नहीं है । इसका यह नूतन कर्म है । इसका फल इसे आगे निश्चित मिलेगा । निम्न उदाहरण से बात समझ में आ जाएगी । राज्य के अपराधी को निश्चित किये हुए वधिक के द्वारा वध करने ले जाते समय यदि कोई दूसरा व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति करने

उसका वध करदे तो शासन द्वारा उसको दण्ड मिलेगा या नहीं ?

अवश्य मिलेगा क्योंकि उसने स्वतन्त्र कर्म किया है, शासक के आदेश पर नहीं।

यही बात उस व्यक्ति के लिए भी समझ लेनी चाहिए।

जीव नित्य हैं और अनन्त हैं पर संख्या तो निश्चित होनी चाहिए।

निश्चित है। परमात्मा के ज्ञान में और हमारी दृष्टि से असंख्य हैं।

शासन द्वारा तथा मनुष्यों द्वारा मानव संख्या, पशु पक्षियों की संख्या घटाई बढाई जाती है, तब प्रश्न होता है कि कर्मानुसार जिस योनि में जाने वाले जीव स्थानाभाव के कारण दूसरी योनि में भी जा सकते हैं या निश्चित योनि में ही जाएँगे ?

ईश्वर के न्याय में कुछ विद्वानों का विचार है कि योनि में जाने पर भी अन्तर नहीं आता, क्योंकि उसे तो कर्म फल भोगना है। स्थान, साधन, समय ये सब गौण हैं। और कुछ विद्वानों का कहना है कि शासन द्वारा अपराधी को किसी भी बन्दीगृह में रखा जा सकता है पर क्लास वही मिलेगी जो उसे मिलनी चाहिए। अर्थात् परमात्मा जीव को उसी योनि में भेजेगा जैसा उसका कर्म हैं। हाँ यह हो सकता है कि उसे अन्य सृष्टि में भेज दे।

जीव योनियों में जाते समय किस प्रकार जाते हैं ?

मृत्यु के पश्चात् जीव संस्कार रूपी कारण शरीर से दूसरे जन्म की तैयारी करता है और जिस प्रकार की जाति, आयु और भोग है, वह जल फल के अनुकूल कर्म के किये होते हैं उस प्रकार की योनि में प्रवेश करता है और माता के शरीर में निश्चित समय तक रह कर जन्म लेता है। माता की इंद्रियों के आधार पर बालक की इंद्रिया, माता के भोजन करने पर उसे भोजन मिलता है और शरीर की वृद्धि होती है।

गर्भाधान के कुछ दिनों पश्चात् जीव गर्भ में आता है ?

नहीं। उसी समय आता है और सभी इन्द्रियां सूक्ष्म रूप में जैसे— "आम की गठली में पूरा वृक्ष छुपा रहता है, भूमि में पेरने के पश्चात् सभी तत्वों के आधार पर वढ़ना है" उसी प्रकार बालक भी वढ़ता है।

पूर्व जन्म में एक शरीर के द्वारा कर्म करने पर दूसरे जन्म में दूसरे शरीर द्वारा फल मिले, यह तो न्याय नहीं है?

शरीर भोगायतन अर्थात् भोग का साधन है—जड़ है। इस के द्वारा फल भोगा जाता है।

एक बात पूछना मैं भूल गया। आप यह बताइए यह विवाह की प्रथा आरम्भ से है या वाद में चालू की गई।

विवाह में वेद मन्त्र बोले जाते हैं। पति पत्नी को शिक्षा दी गई है। इसलिए विवाह पद्धति आरम्भ से है ऐसा न मानने पर यह मानना पड़ेगा कि आरम्भ में अनैतिक कार्य हुए? इसका दोष ईश्वर पर आएगा।

जव कर्म फल निश्चित है तव औषधि आदि के द्वारा स्वास्थ्य लाभ क्यों होता है?

ईश्वर ने जव औषधियां बनाई हैं, तव प्रयोग तो करना ही चाहिए। रही बात कि सफलता क्यों मिलती है और नहीं भी मिलती यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि एक अपराधी को दस वर्ष का कारागार मिला, पर बन्दीगृह में उसके सद्व्यवहार के कारण कुछ दिन की छूट मिल जाती है। वहां पर उद्दण्डता करने पर दण्ड में वृद्धि भी हो जाती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि फल भोगते हुए उत्तम आचरणों द्वारा पुरुषार्थ करने पर ईश्वर के न्यायानुकूल ही कुछ कमी हो जाती है।

हां आपने ठीक समझा। इसे दूसरे उदाहरण से भी समझिए। एक व्यक्ति ने किसी जीव का वध किया। उसका निश्चित दण्ड तो

मिलेगा ही पर वही मनुष्य किसी जीव को न सताकर अन्य प्रकार के अनैतिक कार्य, दुर्व्यसन आदि करे, उसके फल स्वरूप जो फल मिल रहा है, उसमें कमी हो सकती है। इससे ईश्वर के न्याय में अन्तर नहीं पड़ता। यदि वह वर्तमान में श्रेष्ठ कर्म करता हो तो उसे सहन शक्ति भी मिल जाती है।

स्वर्गलोक कहीं ऊपर है और नर्क लोक कहीं नीचे है, क्या यह सच है?

जिस प्रकार की कल्पना भिन्न-भिन्न मतावलम्बी लोग करते हैं, हम नहीं मानते। इस लोक के अतिरिक्त अनेक लोक हैं, इस बात को हम और आज के विज्ञानवेत्ता (पश्चिमी) भी मानते हैं।

प्रत्येक महापुरुष का उसके नाम का लोक है, यह बात झूठ है, ऐसा आपका मत है। इसे झूठ क्यों माना जाए?

यदि मैं भी यह कहूँ कि मेरे पिता का भी एक लोक है और उनकी भक्ति करने वाले उस लोक में जाते हैं तो क्या वे लोग मानेंगे?

वे लोग तो नहीं मानेंगे।

स्वर्ग नर्क की कल्पना हमारी यह है कि अपने कर्मफलों के आधार पर जीवन में विशेष सुखों की प्राप्ति होती है। अधिकांश में तब मनुष्य स्वर्ग में रहता है।

जब मनुष्य पापों का फल भोगते हुए शारीरिक मानसिक कष्ट भोगता है तब वह नर्क में रहता है और गाढ़ निद्रा में मन का संकल्प, विकल्प समाप्त होने पर आनंद की अनुभूति जब होती है तब मुक्ति का अनुभव होता है।

तो क्या निद्रावस्था में आत्मा परमात्मा का मेल होता है?

हां, आप इस उदाहरण से समझिए। आप किसी व्यक्ति से अत्यंत स्नेह करते हैं। दिन में एक बार मिले बिना आत्म शांति नहीं होती। जब मिल जाते हैं तब शांति मिल जाती है। इसी प्रकार आत्मा परमात्मा से गाढ़ निद्रावस्था में मिलता है। इसीलिए उसे महान् शांति प्राप्त होती है। पुनः वह जागृत होने पर नव जीवन

प्राप्त करता है। यह संसार का सर्वोपरि सुख है। जो लोग पागल हो जाते हैं, उसका कारण यही है। उन्हें निद्रा नहीं आती। वे परमात्मा – मिलन से वंचित रहते हैं। उपचार करवाने पर पुनः निद्रा आने लगती हैं तब शांति मिलती है।

मुक्तावस्था होती है और वहां आनन्द मिलता है, इसका आधार क्या है ?

प्रत्येक वस्तु का भण्डार होता है। जैसे मृतिका का भण्डार धरती है उसी प्रकार आनंद का भण्डार परमात्मा है। जीवों को जन्म देने का उद्देश्य भी आनंद प्राप्त कराना है। आनंद का भण्डार आनंदघन परमात्मा ही है। इसलिए मुक्ति प्राप्त करके जीव आनंदित होता है।

बात समझ में आ गई, परमात्मा आनन्दघन है। उसकी निकटता प्राप्त करना कैसे समझी जाए ?

गाढ़ निद्रा में ज्ञान रहित और शरीर सहित, योगावस्था में शरीर सहित और ज्ञान सहित और मुक्तावस्था में शरीर रहित और ज्ञान सहित आनंद की अनुभूति होती है। जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

लोग कहते हैं मुक्ति में जीव ब्रह्म में लय हो जाता है।

लय हो जाता है मानने पर कभी ब्रह्म में से निकला था यह भी मानना पड़ेगा। लय का अर्थ होता है अपने अस्तित्व को समाप्त कर दूसरे के अस्तित्व में मिल जाना। दो सत्ताएँ एक नहीं हो सकती और एक सत्ता अनेक नहीं हो सकती। लय का अर्थ होता है---अपनी सत्ता को समाप्त कर देना। तब आनंद का अनुभव जीव को कैसे होगा ? जीव का मुक्तानंद प्राप्त होना नैमित्तिक है। नैमित्तक गुण स्थायी नहीं रह सकता। जैसे–लोहे के गोले को अग्नि में डाल देने पर अग्निवत् हो जाता है पर उसका कालापन दूर नहीं होता। पुनः अग्नि से हटते ही वह अपने रूप में आ जाता है।

तो क्या मुक्ति में जीव को अल्पज्ञता, इच्छा आदि गुण रहते हैं ?

हाँ जीव सर्वदा परिवर्तन चाहता है। इसलिए मुक्ति में भी विविध भाँति के आनंद की इच्छा करता है और संकल्प मात्र से इच्छा की पूर्ति हो जाती है।

जीव को आनन्द कितनी मात्रा में मिलता है ?

जितनी उसकी क्षमता है। एक तैराक मनुष्य अथाह समुद्र के अथाह जल में अपनी शक्ति अनुसार तैर लेता है। उसके लिए उतना ही पर्याप्त है।

बिना माध्यम के जीव सुख दुःख का अनुभव नहीं कर सकता, तब मुक्तावस्था में किस माध्यम से आनन्द की प्राप्ति करता है ?

माध्यम तो होना ही चाहिए। मुक्ति में उस जीव के सब सत्य संकल्पादि स्वाभाविक गुण और सामर्थ्य रहते हैं परन्तु जीव का भौतिक संग नहीं रहता। मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक साथ नहीं रहते परन्तु उनके अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। जब वह सुनना चाहता तब कान, जब स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखना चाहता तब चक्षु, स्वाद लेना चाहता है तब रसना, जब सूँघना चाहता है तब नासिका, जब संकल्प-विकल्प करना चाहता है तब मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त और अहंकार रूप अपनी शक्ति से जीवात्मा मुक्ति में जाता है।

मुक्ति में जीव की स्थिति क्या रहती है ?

पशु अपनी सीमा में परतंत्र है। मनुष्य अपनी सीमा में परतंत्र और स्वतंत्र है। ये मुक्तावस्था में अपनी सीमा में पूर्ण स्वतंत्र हैं। ये संकल्प मात्र से आनंद का अनुभव कर सकते हैं और जहां चाहे किसी लोक में भी विचर सकते हैं। हां सर्व शक्तिमत्ता, सर्व व्यापकता आदि गुण इनमें नहीं आ सकते।

मुक्त होने से पूर्व पाप कर्म के फल शेष रहते हैं क्या ?

मुक्तात्माएं सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होती हैं। उनमें योग्यताओं

की विभिन्नताएँ रहती हैं। ये विभिन्नताएँ सिद्ध करती हैं कि मुक्त होने से पूर्व के कर्मफल शेष थे।

अन्य मतावलम्बी तो ऐसा नहीं मानते।

अन्य मतावलम्बियों की बात छोड़िए, वे तो मुक्ति से लौटना ही नहीं मानते। उनका परमात्मा तो पापों के फल को क्षमा भी कर देता है और गंगा में नहाने से, तोबा और नाम जाप करने मात्र से मुक्ति दे देता है। उनके यहां तो यह सौदा बहुत सस्ता है।

जीव मुक्ति के आनन्द को भोगकर पुनः लौटता है, इसका क्या प्रमाण है ?

जाना ही लौटने का प्रमाण है और सीमित कर्मों का फल सीमित ही मिलेगा।

मुक्ति के लिए निष्काम कर्म करने की आवश्यकता क्यों है ?

मुक्ति की इच्छा रखनेवाले को जीवनमुक्त होना आवश्यक है। प्रत्येक प्रकार की ईषणाओं का समाप्त किय बिना मक्त नहीं हो सकता। ईषणाओं के रहने पर मुक्ति में जाना उसके लिए अभिषाप बन जाएगा। जैसे—एक दुर्व्यसनी को सत्संग अच्छा नहीं लगता।

आपके कथनानुसार तो मुक्ति के विषय में सोचना ही व्यर्थ है। करोड़ों अरबों व्यक्तियों में एक व्यक्ति भी मिलना कठिन है जो मुक्ति का अधिकारी हो।

आपकी बात को मान्यता देकर भी हमारा यह कहना है कि प्रत्येक विषय की जानकारी रखने में पीछे नहीं हटना चाहिए। माना कि हमारी मुक्ति नहीं होगी पर मुक्ति के नाम पर ठगे तो नहीं जाएंगे। स्वीड्जलैंड जाने की क्षमता न होने पर भी उसकी जानकारी रखने से हानि न होकर कुछ लाभ ही होगा। संभवतः कभी अवसर जाने का आ जाए। यदि जीव के लिए मुक्ति पाना असंभव होता तो मुक्ति प्राप्त करने का उपदेश परमात्मा की ओर से क्यों दिया जाता ? मुक्ति के न मिलने पर भी मुक्त होने के कर्म से लाभ तो अवश्य होगा। हाँ मुक्ति के नाम पर जो लोग बहकाते हैं, गोल फिराते हैं उन से अवश्य बचना चाहिए।

ऋषि मुनि, एवं जो महापुरुष हुए, क्या वे सभी मुक्ति को प्राप्त हुए होंगे ?

जो व्यक्ति हमारी दृष्टि में धर्मात्मा है वह व्यक्ति ईश्वर की दृष्टि में धर्मात्मा और मुक्ति का अधिकारी होगा और यह जानना कि मुक्ति अमुक व्यक्ति की होगई, हमारी वुद्धि के वाहर है।

परलोक किसे कहते हैं ?

आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्व में प्राप्त की हुई योनि को दूसरे जन्म में दूसरी प्राप्त होने वाली योनि को परलोक कहते हैं। दूसरी धरती को भी परलोक कहते हैं और वर्तमान शरीर को भी लोक समझिए। भौतिक दृष्टि से सूर्यलोक को लोक कहते हैं। जिस धरती पर आप हम वैठे हैं, इसे भी लोक कहते हैं। इन दोनों के बीच के भाग को भी लोक कहते हैं। राजनैतिक दृष्टि से अपनी धरती को भी लोक कहते हैं। समुद्र को भी लोक कहते हैं। आकाश को भी लोक कहते हैं।

इस सृष्टि क्रम का आरम्भ कब से हुआ ?

सृष्टि का आरभ होता है, क्रम का आरंभ नहीं होता।

क्यों ?

आप ईश्वर का आरंभ मानते हैं क्या ?

नहीं।

उसके गुण, कर्म, स्वभाव का आरभ मानते हैं क्या ?

नहीं मानते।

तब तो आपको यह मानना पडेगा कि ईश्वर के साथ ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव उसी के साथ रहेंगे और यदि क्रम का आरंभ मान लिया जाय तो आपको अंत भी मानना पडेगा और क्रम के आरभ से पूर्व ईश्वर क्या करेगा ? और अन्त के पश्चात् क्या करेगा— इस प्रश्न का उत्तर नहीं बन सकेगा। जो कारण क्रम के आरंभ

में मानेंगे, उस कारण को आरंभ से पूर्व और अंत के पश्चात् भी मानना पड़ेगा।

तो क्या ईश्वर के चाहने पर भी सृष्टि बनना बन्द नहीं हो सकता ?

ईश्वर की भांति ईश्वर का कार्य नित्य है।

कई मतवादी मानते हैं कि यह सृष्टि पूर्व में नहीं बनी थी, अन्त में भी नहीं बनेगी। यह पहली और अन्तिम है।

यदि हम कहें कि पूर्व में पांच बार सृष्टियाँ बनी थीं और पांच बार भविष्य में भी बनेगी, इस बात पर वे क्या कहेंगे? वे संतोषजनक समाधान नहीं कर सकेंगे। यह सृष्टि बनी बनाई है अर्थात् कभी बनी नहीं और कभी मिटेगी भी नहीं, ऐसा कई लोग कहते हैं। क्या यह बात भी मानी जा सकती है ?

यदि यही प्रश्न आपसे करें तो आप क्या कहेंगे ?

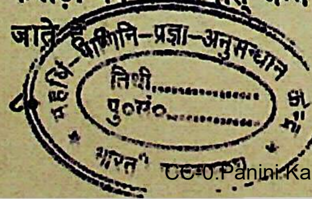
पांचों तत्वों द्वारा यह स्पष्ट दीख रहा है कि क्षण-क्षण में परिवर्तन हो रहा है और बनना–बिगड़ना प्रत्यक्ष है। जब मिट्टी से बने भवन बनाने पर बनते हैं और विनष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार सृष्टि भी बनी है और विनष्ट भी होगी।

अच्छा यह बताए, सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ ?

प्रलय के पश्चात् आकाश, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल और धरती उत्पन्न होकर, फिर वनस्पतियां, अन्न उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् शाकाहारी पशु, फिर मांसहारी पशु, अन्त में मानव उत्पन्न हुए। ऐसा होने पर ही काम चलता है।

धरती में जीव जन्म कब लेते हैं और कब जन्म लेना बन्द हो जाता है?

करोड़ों वर्ष के पश्चात् जन्म लेते हैं और करोड़ों वर्ष पहले ही चले जाते हैं।



आकाश पहले और भूमि बाद में हुई ऐसा क्यों माना जाए ?

सूक्ष्म द्रव्य के पश्चात् स्थूल द्रव्य उत्पन्न होना यह नियम है। आकाश से स्थूल वायु है, वायु से स्थूल अग्नि है, अग्नि से स्थूल जल है, जल से स्थूल पृथ्वी है और इन्हीं तत्वों द्वारा शरीर बनता है।

तो क्या ये पशु पक्षी मानव बिना माता पिता के धरती से उत्पन्न होते हैं ? यह तो समझ में नहीं आता।

तो जो समझ में आता हो, आप बताइए।

लोग कहते हैं ईश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया।

ब्रह्मा को कैसे उत्पन्न किया ?

संकल्पमात्र से।

आप अपने कथन का उदाहरण दीजिए कि बिना द्रव्यों के कल्पना मात्र से शरीर बन सकता है।

उदाहरण तो नहीं दे सकते।

बिना द्रव्यों के ईश्वर के कल्पना मात्र से हुए, यह तो मानते हैं पर धरती से हुए यह नहीं मानते। आज के वैज्ञानिकों ने भी यह मान लिया है कि सूर्य के द्वारा वीर्य के परमाणु आते हैं और पृथ्वी में रज के परमाणु रहते हैं इनके मिश्रण से शरीर बनते हैं। जैसे-मैल से जूएँ, अन्न में इलिएँ और गोबर में कीड़े।

हमें अन्य उदाहरण देकर समझाइए।

हम पहले आपसे कुछ प्रश्न करेंगे। जब मनुष्य दौड़ लगाता है तब सर्व प्रथम क्या होता है।

शरीर में आकाश तो रहता ही है, पश्चात् श्वास प्रबल रूप से चलने लगता है।

दौड़ना बंद न करने पर फिर क्या होता है ?

गर्मी का बाहुल्य हो जाता है, उसके पश्चात् पसीना निकलता है।

पसीने के निकलने पर न नहाने से क्या होता है ?

मैल जमा हो जाता है और उसमें जूँ और क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं ।

वे जूँ और क्रिमि विना माता पिता के होते हैं या माता पिता से ?

बिना माता पिता के ।

बिना माता पिता के होते हैं, आप यह बात मानते हैं। तब यह बात भी मानिए कि पसीने में ही रज वीर्य के मेल से शरीर बनते हैं, बिना द्रव्यों के बनना असम्भव है ।

शाकाहारी पशु पहले क्यों माने जाएँ ?

नियम है कि भोजन पहले खाने वाला बाद में उत्पन्न होता है। जैसे–संतान होने से पूर्व ही माता के स्तनों में दूध उत्पन्न होता है। शाकाहारी पशु मांसाहारियों का भोजन होने से पहले उत्पन्न होते हैं। अन्न, फल और दुग्ध मानवों का भोजन है। इसलिए ये पहले पैदा होते हैं और मानव उसके बाद ।

तो क्या उत्पन्न होने वाल युवा होते हैं ?

हां। यदि अबोध उत्पन्न हुए होते तो जीते कैसे ? आपने पशु जगत् को देखा होगा। उत्पन्न होते ही इतनी योग्यता उनमें रहती है कि वे अपने आप को जीवित रख सकें और जिनकी सुरक्षा करने वाले होते हैं उनके बच्चे अबोध रहते हैं, पोषण से बढ़ते हैं। स्वाभाविक ज्ञान साथ में रहता है, नैमित्तिक ज्ञान सिखाने पर आता है, बिना सिखाए नहीं आता। सर्व प्रथम मानवों में स्वाभाविक ज्ञान रहता है। नैमित्तिक ज्ञान ईश्वर की प्रेरणा द्वारा आता है ।

अमैथुनि सृष्टि मानवों की आज क्यों नहीं होती ?

धरती बनने के पश्चात् प्रथम सृष्टि अमैथुनि होना पश्चात् न होना यह नियम है ।

जूँ, कीडे आदि की अमैथुनि सृष्टि बार बार कैसे होती है ?

जूं कीड़े आदि का प्रलय उनके हिसाब से बार बार होता है। इसलिए उनकी बार बार अमैथुनि सृष्टि होती है। जैसे शिर मुंडाने से जूं मर जाती हैं यह उनका प्रलय है। इसी प्रकार अन्य जीवों का भी समझिए।

आप विकासवाद को नहीं मानते पर विकास तो होता हुआ प्रत्यक्ष दीख रहा है।

आप अपने शरीर की स्थिति से धरती की तुलना कर के समझने का यत्न कीजिए। जैसे जन्मजात बालक पहले पहल अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है फिर थोड़ा थोड़ा युवावस्था तक पहुंचता है फिर उसका बढ़ना रुक जाता है फिर ह्रास की ओर जाता है। शारीरिक शिथिलता आने लगती है फिर अधिक जर्जर होकर चलने फिरने में दुर्बलता आती है, अन्ततः मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार विकास के बाद ह्रास हो जाता है।

तो क्या बुद्धि, योग्यता, शक्ति की भी यही स्थिति मानते हैं ?

सर्व प्रथम उत्पन्न होने वाले शारीरिक स्थिति में आज के पशुओं से उस समय के पशु श्रेष्ठ होते हैं। योग्यता में श्रेष्ठ होना आवश्यक नहीं पर सर्व प्रथम सृष्टि में आने वालों की आत्माएँ मुक्ति से लौटी हुई रहती हैं और ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा वेदों का मौलिक विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करके योग्यतम व्यक्ति बन जाते हैं। उसके पश्चात उनकी सन्तानें उतार-चढ़ाव में झूलती हुई आगे बढ़ती हैं और आज की स्थिति आपके सामने है।

सृष्टि का अन्त कैसे होता है ?

जिस क्रम से आरम्भ होता है उसके विपरीत क्रमानुसार अन्त होता है। अर्थात् पहले मानव समाप्त होते हैं, फिर पशु-पक्षी, फिर वनस्पति आदि फिर धरती, जल, अग्नि और वायु समाप्त हो जाते हैं। आरंभ में बिना माता पिता के सन्तानें होती हैं और अन्त में बिना सन्तानों के स्त्री-पुरुष रह जाते हैं। इसे यों समझिए। जैसे—वृद्धावस्था में शरीर के

शिथिल होने पर सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता समाप्त हो जाती है, और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

आप के कथनानुसार तो प्रलय इतना भयानक नहीं है !

परमात्मा की ओर से जो कार्य होते हैं, भयानक और दुखदायी नहीं होते हैं। दुःखों को तो मनुष्य ही उत्पन्न कता है।

क्या वेद मन्त्रों की रचना ऋषियों ने की ?

ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा है। उन्होंने मन्त्रों की यथार्थता को समझा और वर्णन किया। वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वर के साथ ही रहता है। इसलिए वेद में इतिहास भी नहीं है। जो भी वर्णन है वह त्रिकालिक ज्ञान है।

तो क्या गर्भावस्था में जीवों को कष्ट नहीं होता ?

नहीं होता। गर्भ में जीव बहुत ही सुरक्षित और सुख से रहते हैं। शरीर को अयोध्या और आत्मा को दशरथ की उपमा दी गई है। हमने बतलाया है कि प्रत्येक जीव अपनी योनि में सुख का ही अनुभव करता है, चाहे वह किसी योनि में क्यों न हो।

आपके कथनानुसार देही में एक जीव रहता है तो क्या रक्तादि में जीव नहीं है ?

हमने कहा है कि अभिमानी जीव एक है और रक्तादि में अनन्त जीव रहते हैं जिन्हें अधिशमी जीव कहते हैं। जैसे प्रलय होने पर धरती के जीव सब समाप्त हो जाते हैं इसी प्रकार देही के सभी कीटाणु समाप्त हो जाते हैं और शव अधिक समय धरा रहे तो अन्य कीटाणु उत्पन्न भी हो जाते हैं।

क्या सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का प्रलय हो जाता है ?

खण्ड प्रलय तो सर्वमान्य है पर अखण्ड प्रलय में मतभेद है। सत्य किसे माना जाए यह अभी विचारणीय है। स्थूल साकार पदार्थ कटते-कटते अविभाज्य रूप में सूक्ष्म बन रंग रूप में आकार विहीन हो जाते हैं और सूक्ष्म से स्थूल बनने के लिए उनमें पुनः रंग, रूप, आकार धारण करने का गुण बना रहता है।

अब मैं आपसे कुछ सांसारिक सामाजिक बातों के विषय में जानकारी चाहता हूँ। क्या यह बेटी-व्यवहार सब के साथ हो सकता है ?

चालू परम्परा को मिटाने अर्थात् परिवर्तन लाने के लिए बहुत सावधानी बरतनी चाहिए अन्यथा बहुत बड़ा विघ्न खड़ा हो सकता है। मेरे विचार में यह बात आती है कि राष्ट्रपति अपने प्रभाव का उपयोग करके वड़े-वड़े नेताओं को, धार्मिक आचार्यों को जमा करे और जन्मना जाति मानने वाले पौराणिक वर्ग को ध्यान में रखकर निम्न प्रकार से परिवर्तन लाएँ। जन्मना जाति, प्रान्त, भाषा, खान-पान, व्यवहार, परंपराएँ आदि जिन वर्गों की समान हों केवल बेटी व्यवहार न होता हो, उनमें बेटी-व्यवहार चालू कराया जाए। इसका परिणाम यह होगा कि वर्गों, बिरादरियों की संख्या घट जाएगी और आपत्तियां खड़ी न होंगी। विना समझे जोश में आकर मनमाने ढग से कार्य करने पर बहुत वड़ी आपत्तियां खड़ी हो सकती हैं।

क्या यह दारू बन्दी पूर्ण रूपेण बन्द हो सकती है ?

शासकगण दृढ़ रहे तो हो सकती है। सरकार से उसके लिए हमारा यह सुझाव है कि आरंभ में एक काम यह करें कि ग्राम के बाहर सेंधी और शराब का धन्धा करने को कहें और छोटे बालकों को विद्यालयों में यह शिक्षा दी जाए. जिससे वे व्यसनी न वनें। सामाजिक संस्थाओं द्वारा, धार्मिक स्थानों में पंडितों द्वारा, गिरिजा घरों और मस्जिदों में पादरियों और मौलवियों द्वारा प्रचार कराया जाए। पुस्तकों, समाचार पत्रों, सिनेमाओं द्वारा प्रचार किया जाए। सिगरेट, बीडी, तम्बाकू आदि के लिए भी यही नीति अपनाई जाए। युवकों को शराब, सेंधी पीते हुए देखकर उनको दण्डित किया जाए। ऐसा करने के पश्चात् पूर्ण रूपेण बन्द करना ठीक रहता है। बिना विचारे यह बात कह देना सुनने में अच्छी लगने पर भी उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। मदिरा. मांस, जूठा खाना, शुद्धि-अशुद्धि का विचार न करना और सब समान हो जाना, इसका अर्थ तो यह हुआ कि सभी वर्ग समान, मांसाहारी, शराबी अर्थात् सब का एक हो

जाना है। हमारी समझ में यह बात नहीं आती। समान खान-पान, आचार विचार, व्यवहार रखने वाले वर्गों को एक हो जाना चाहिए और सामाजिक क्षेत्रों में बैठकर किसी से घृणा का व्यवहार नहीं करना चाहिए।

गोवधबन्दी के लिए और गोसंवर्धन के लिए आपकी क्या सम्मति है ?

शासन द्वारा गोवध बन्द होना चाहिए। साथ ही आर्थिक दृष्टि से गोसंवर्धन होना चाहिए। निकम्मे पशुओं का पालन-पोषण, उन के गोबर, गोमूत्र और चर्मादि द्वारा द्रव्योपार्जन होना चाहिए। कम पड़ने पर शासन के द्वारा पूर्ति करनी चाहिए। यह सब सहकारिता के साथ होना चाहिए। दुग्धालय जगल में होना चाहिए और गो-संवर्धन संबन्धी शिक्षा प्राप्त शिक्षित विशेषज्ञों के द्वारा यह सब होना चाहिए। धनी लोगों का सहयोग भी लेना चाहिए। गो भक्त जनता को मात्र गौ का दुग्ध ही पीना चाहिए। ये बातें संक्षेप में बतलाई गई हैं। ऐसे किये बिना गौवंश का बचना असंभव है।

लोग तो चाहते हैं गोपालन भी सरकार करे और दुग्ध भी सरकार द्वारा क्रय किया जाए और पिया जाए। मरे हुए पशुओं को गाडा जाए और केवल गो माता की जय कहकर सस्ती मुक्ति प्राप्त करलें।

इसीलिए गो संवर्धन नहीं हो रहा है। गोवध के दोषी अन्य भी हैं पर गोभक्त कहलाने वाले हिन्दु ही अधिक दोषी हैं।



मैं आपसे कुछ व्यक्तिगत प्रश्न करना चाहता हूँ ?

अवश्य कीजिए ।

क्या आपने 'मातृवत् परदारेषु' का पालन किया है ?

शरीर की पवित्रता बनाए रखी है, मन की बात मत पूछिए ।

'परद्रव्येषु लोष्ठवत्' के विषय में ?

आंशिक दोषी हूँ पर जिस किसीसे कुछ लिया है, उसके घर बैठे उसे पहुंचाया आवश्य है ।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सम्बन्ध में ?

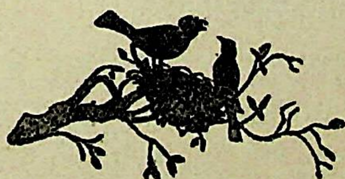
किसी जीव की इच्छा से हत्या नहीं की और किसी को दुःखी करने आक्रमण भी नहीं किया पर प्रत्याक्रमण तो किया हूँ । मैं अपने को धर्मात्मा तो नहीं कहता पर पाप सें बचने का प्रयत्न करता हूँ ।

पुत्रेष्णा, वित्तेष्णा तथा लोकेष्णा से ऊपर उठे हैं ?

पुत्रेष्णा तो नहीं रही, वित्तेष्णा की प्रबलता भी नहीं रही, लोकेष्णा इतनी अवश्य है कि मुझसे कोई बदनामी का काम न हो ।

क्या आप वानप्रस्थ और सन्यास लेंगे ?

मैं अपनी कमियों को जानता हूँ । इन आश्रमों के नियमों को पालने में मैं अपने को असमर्थ अनुभव करता हूँ ।



उपसंहार

ईश्वर एक है, अविभाज्य है, अपरिवर्तनशील है, निर्विकार है, आवश्यकताओं व इच्छाओं से रहित है, परिपूर्ण है और आनन्दघन है। उसकी क्रिया बिना फल वाली है।

जीव नित्य है, असंख्य है। ईश्वर के ज्ञान में संख्या निश्चित है। जीव सत्चित है, नाना इच्छाएँ करता है। शरीर, मन, इन्द्रियां एवं बुद्धि ईश्वर द्वारा प्राप्त होने पर ही वह कार्य करता है। अपनी सत्ता का अनुभव कर सकता है।

प्रकृति भी नित्य है, जड़ है, बनने बिगड़ने वाली है पर चेतन सत्ता के द्वारा ही बनती बिगड़ती है।

ईश्वर कर्ता व द्रष्टा है। जीव भोक्ता है और प्रकृति भोग्या है। जीवों के लिए जगत् बनाया जाता है।

संसार ही बन्धन में बांधता है और संसार ही उत्तम कार्य करने पर जीवों को मुक्ति दिलाता है।

बिना कर्म के फल नहीं मिलता, कर्म करने पर फल अनिवार्य मिलता है। कर्म करना जीव का स्वभाव है। कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, फल भोगने में परतन्त्र है।

कर्मवाद और भाग्य वाद को मानना और पुनर्जन्म को नहीं मानना यह बात नियम और युक्ति के विरुद्ध है।

ईश्वर जीव ये दोनों चेतन सत्ताएँ हैं, अकाट्य हैं, इन के अतिरिक्त तीसरे प्रकार की (पृथक ढंग के गुण कर्म स्वभाव रखने वाली) कोई सत्ता भी है। इसका पता किसी को भी नहीं है।

नास्ति अर्थात् अभाव से रूहें खुदा ने अपनी इच्छा से पैदा की और ये रूहें आगे चलकर जन्नत या जोज़ख में सदा के लिए पड़ी रहेंगी, यह बात समझ में नहीं आती।

मुक्ति में जीव ईश्वर में लय हो जाता है इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीवों का अस्तित्व ही न रहा! यह बात भी समझ में नहीं आती इसलिए कि जिसका अस्तित्व होता है वह मिटता नहीं।

ब्रह्म ही जीव बन गया और जीव ही मुक्त होकर पुनः ब्रह्म बन गया, बनने का कारण और उद्देश्य क्या था? इसका समाधान नहीं करने पर बात समझ में नहीं आती।

प्रत्येक कार्य के पीछे कारण, उद्देश्य और आधार होता है। परोक्ष सत्य को जानने के लिए प्रत्यक्ष सत्य ही आधार है।

न घटने जैसी घटनाओं का उल्लेख जहां वेद ने किया है उन्हें ऐतिहासिक न समझकर आलंकारिक समझना चाहिए।

ईश्वर की उपासना, जीवों की सेवा और जड़ पदार्थों को उपयोग में लाना चाहिए पर मनुष्य जीवों की हिंसा करता है, जड़ को चेतन समझकर मिष्टान्नादि खिलाता है और ईश्वर से अपनी उपासना करवाता है। यह ठीक नहीं।

सब को प्रसन्न रखने की इच्छा करने वाला सत्य को ग्रहण नहीं कर सकता। सत्य का मंडन करने के लिए असत्य का खंडन होना अनिवार्य है।

जिस प्रकार की योनियां और उनके गुण कर्म स्वभाव जो आज दिखने में आ रहे हैं वे सदा एक जैसे रहेंगे। जिस प्रकार के कार्य हो रहे हैं, सदा होते रहेंगे। सृष्टि में नया कार्य न हुआ है और न होगा।





इन बातों को ध्यान में रखिए

मनुष्य नैसर्गिक, सर्वमान्य, निर्भ्रान्त सत्य धर्म को मानने लग जाए तो आपसी मतभेद समाप्त हो सकते हैं।

जीवमात्र के साथ सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करदें तो संसार सुखी हो सकता है।

आगे होकर कभी आक्रमण न करें, प्रत्याक्रमण भी अपनी सीमा में रहकर सोच समझकर करें।

मनुष्य नैतिकता को अपनाकर अपने वचनों का पालन करने लग जाए तो न्यायालय की अवश्यकता न रहे।

सभी काम समय पर होने से समय नष्ट नहीं होता। नागरिकता शिष्टाचार की पहली सीढी है।

जिस प्रकार का उपदेश व शिक्षा मनुष्य अन्यों को दिया करता है उसीमें अपने को भी ढाललें तो सब का भला हो सकता है।

जिस प्रकार का व्यवहार मनुष्य अपने लिए अन्य से चाहता है, उसी प्रकार का व्यवहार अन्यों से करने लग जाए तो मनुष्य अपकार कर ही नहीं सकता।

भूल हो जाने पर स्वीकार करलें, पश्चाताप करें और उचित प्रायश्चित करलें तो मनुष्य देव बन सकता है। महादेव के दर्शन कर सकता है। अत्याचार करने वाले का पतन निश्चित है। अत्याचारी ऊपर से चाहे हँसे पर उसे आत्मग्लानि तो होती ही है।

शक्तिशाली तो डाकू भी होता है और क्षत्रिय भी होता है। डाकू अपने लिए अन्यों के प्राण लेता है और क्षत्रिय अन्यों के लिए अपने प्राण देता है।

व्यावहारिकता के बिना विद्वत्ता विधवा के समान है। सच्चरित्रता-शून्य शक्ति की भी यही स्थिति है।

संस्कृतिका सम्बन्ध मन से है, सभ्यता का सम्बन्ध शरीर से है। अतः सभ्यता को संस्कृति से अधिक महत्व नहीं देना चाहिए।
अपनी बात मनवाने बल का नहीं, बुद्धि का उपयोग सहृदयता के साथ कीजिए।

अपनी प्रशंसा अपने मुख से करने पर आपके दोष स्वयं उभर आएँगे।

बात करते समय गालियों का पुट मत लगाइए। आप तो अच्छे शब्द सुनना चाहते हैं और अन्यों को गालियाँ देना चाहते हैं, यह तो पाप है।

सद् ग्रन्थ पढिए, सत् दृश्य देखिए और सद् विचार रखिए।

मदिरा, मांस, गाँजा, सुलफा, भंग, सिगरेट, बीड़ी, नास, जर्दा, चाय, छोड़ काफी आदि का व्यसन पीछे मत लिपटाइए। लिपटा लिये हों तो छोड़िए। इन से स्वास्थ्य और धन की हानि होती है।

यदि आप शाकाहारी हैं तो, शाकाहारी होटलों में ही जाइए।

योग्य पात्र को जाँचकर अपनी क्षमता अनुसार दान अवश्य दीजिए। पापी को दान देने पर उसके पाप के भागी आपको भी बनना पड़ेगा।

बच्ची के उत्पन्न हो जाने पर बेंक में विवाह के लिए शक्ति अनुसार धन जमा करना आरंभ कर दीजिए।

बच्चों को धार्मिक शिक्षा नहीं दिलाएँगे तो आपकी संतानें आपकी नहीं रहेंगी।

भाषा, वेष, संस्कृति, सभ्यता, अपने पूर्वजों की मान्यताएँ, परम्पराएँ नष्ट होगई तो आपके जीने से क्या लाभ है।

किसी की नकल अन्धे बनकर मत कीजिए। इसीका नाम दासता (गुलामी) है।

देश की भूमि से, देश वासियों से, देशके प्रत्येक उत्तम कार्य से स्नेह रखने वाला ही देशभक्त कहला सकता है।

किसी को ऋण देना हो तो बहुत सोच विचार कर दीजिए। लेनेवाला लेते समय साधु बनकर लेता है और देते समय साधु रूप छोड़ देता है अर्थात् शैतान बन जाता है।

विशेषकर उन महिलाओं से कहना है जो अपने पति से अथवा परिवार से छुपाकर जमा किया हुआ धन लाभ के लोभ में या किसी के गिड़गिड़ाने पर, दीनता दिखलाने या फुसलाने पर दया की भावना से दे दिया करती हैं। लेते समय मांगने वाला कहता है आपके रुपये दूध में धोकर फूलों में रखकर अपने घर से आपके घर तक साष्ठांग नमस्कार करते हुए पहुँचाऊँगा, आप निश्चिंत रहिए, डुबाऊँगा नहीं। अपने बाल बच्चों की, धर्म की, यज्ञोपवीत की सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि मैं अपने शरीर के चमड़े की जूतियाँ बनाकर आपको पहनादूँ तो भी आपके किए उपकार का बदला नहीं चुका सकता।

जब वह देने की स्थिति में आजाता है तब भी वह देना इसलिए नहीं चाहता क्योंकि आप तो घरवालों के भय से मांग नहीं सकती, दावा करना तो दूर की बात है। तब आप को हीन बनकर बार-बार गिड़गिड़ाकर मांगना पड़ता है। तब गाय का रूप दिखाने वाला याचक सिंह की तरह गरज कर कहता है–कौन दिया किसने लिया हिसाब बताओ, मेरे कोई लेख है तो दिखाओ। तेरे पास इतने रुपए कहां से आए। जाओ दावा करो। खबरदार मेरे घर पर पाँव धरा तो टांग तोड़ दूंगा। अपनी सूरत मत बताना। तब आपकी स्थिति क्या होगी इसकी कल्पना कर लीजिए।

कई दुर्जन तो अपनी पुत्री तथा अपनी छोटी बहन के जिसका कन्यादान पिता की अनुपस्थिति में पिता बन कर दिया, उनका धन भी हजम कर जाते हैं। धर्मात्मा बनने के लिए तिरुपति बालाजी जाकर अभिषेक करवाते हैं और यज्ञ में यजमान बनकर दान करते हैं। धीठ बनकर अकड़े फिरते हैं और अपने को पूर्ण धर्मात्मा समझते हैं पर जानने वाले जानते ही हैं। पाप कभी छुपा नहीं रहता।



लेखक की रचनाएँ

१. रामचरित दर्पण	३-५०
२. वैदिक दर्पण	२-५०
३. सिद्धान्त दर्पण	४-००
४. व्यवहार दर्पण (यन्त्रस्थ)	—
५. धर्म दर्पण (प्रकाशनाधीन)	—
६. विचार गीतिका (यन्त्रस्थ)	—





प्राप्ति स्थान :

१. आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य-दक्षिण
दयानन्द मार्ग (मुलतान बाज़ार) हैदराबाद--५०००१

२. पं. मुन्नालाल मिश्र
१२-१-३३, पुराना मल्लेपल्ली
हैदराबाद--५०००१ (आं. प्र.)

लेखक-परिचय

जन्म : चैत्र शुक्ल नवमी वि. सं. १९६

स्थान : बेगमबाजार, हैदराबाद (दक्षिण

आपका प्रारम्भिक जीवन पौराणिकता से प्रभावित रहा । आप ... प्रसिद्ध व्यापारी एवं आर्य समाजी श्री मोहनलाल जी बल्देवा के सम्पर्क में आकर सुधारक बने। शास्त्रार्थ महारथी श्री पं. रामचन्द्र जी देहलवी तथा अन्य आर्य विद्वानों के भाषणों से प्रभावित होकर आप आर्य समाजी बने । आपने अपने विचारों को भजनों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना आरम्भ किया। आप का यह सामाजिक जीवन सन् १९३१ से आज तक निरन्तर चल रहा है ।

आपके स्वतन्त्र विचारों एवं दृढ़ता के कारण आपको आर्य सत्याग्रह में नौ मास के कारावास की सजा मिली। हिन्दी सत्याग्रह तथा गौ सत्याग्रहहों में भी भाग लेकर आपने जेल की यातनाएँ सहीं ।

आपका जीवन सादा, आडम्बर हीन तथा सैद्धान्तिकता से ओतप्रोत है। आप कवि, वक्ता तथा सफल समाज सुधारक हैं ।

